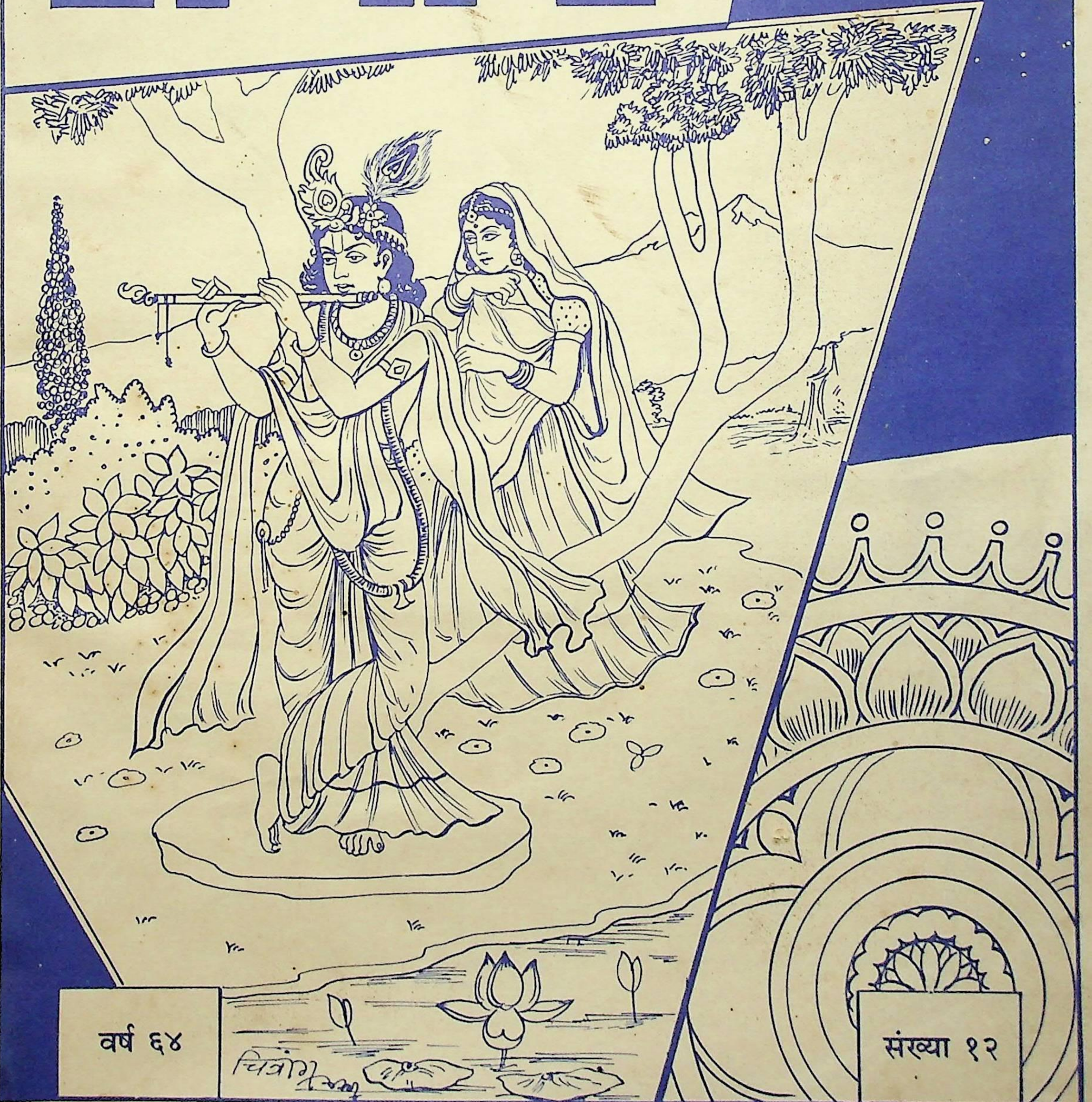
* ॐ श्रीपरमात्मने नमः *

कल्याण



वर्ष ६४

संख्या १२

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

(संस्करण १,९०,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर फाल्गुन, वि॰ सं॰ २०४७, श्रीकृष्ण-संवत् ५२१६, मार्च १९९१ ई॰

चित्र-सूची

प्रत्येक साधारण अङ्कका मूल्य भारतमें २.०० रु॰ विदेशमें २० पेंस

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥

कल्याणका वार्षिक मूल्य (डाक-व्ययसहित) भारतमें ४४.००रु॰ विदेशमें ६ पौंड अथवा १० डालर

संस्थापक—ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका
आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक—राधेश्याम खेमका
रामदास जालान द्वारा गोविन्दभवन-कार्यालयके लिये गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित



बालगोपालकी अनूठी छबि

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥



यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवैर्वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः।
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः ॥

वर्ष ६४ } गोरखपुर, सौर फाल्गुन, वि॰सं॰ २०४७, श्रीकृष्ण-सं॰ ५२१६, मार्च १९९१ ई॰ { संख्या १२ पूर्ण संख्या ७६९

बालगोपालकी अनूठी छबि

वृन्दा-विपिन तपन-तनया-तट शोभित पादप-लता तमाम।
कटि मुरली, घिर रहे मुग्ध गौ-गोपी-गोपोंसे अभिराम ॥
अलंकार-भूषित तन सुन्दर कंठ हार बघनखा ललाम।
मोर-मुकुटधर, खीर-पात्र कर लिये खड़े मनमोहन श्याम ॥

कल्याण

अपनेको उत्तम समझकर न तो कभी अभिमान करो और दूसरेको बुरा समझकर न कभी उससे घृणा करो। जीवनमें न मालूम कितनी बार उत्थान-पतनकी घड़ियाँ आती हैं। जिसका जीवन अन्तिम श्वासतक उत्तम निभ जाय वही उत्तम है और जो जीवनमें कभी न सुधरे वही बुरा है।

अपने जीवनकी ओर सदा चौकन्नी नजरसे देखते रहो, एक-एक कदम बड़ी सावधानीसे सँभलकर रखो, गिरनेके लिये जगत्में चारों ओर इतने गहरे गड़हे हैं कि जिनकी गिनती ही नहीं हो सकती। जरा-सी असावधानी तुम्हें न मालूम कितनी गहरी खाईमें गिरा देगी। मनकी प्रत्येक क्रिया और इन्द्रियकी हर एक चेष्टाको प्रभुकी ओर लगी रहनेवाली अव्यभिचारिणी बुद्धिके अधीन रखो। सावधान, एक क्रिया भी ऐसी न होने पावे जो प्रभुसे विमुख ले जानेवाली और दुष्कर्मके गड़हेमें गिरानेवाली हो।

बुरी वासना और पापबुद्धिपर कभी दया न करो, जरा-सी बुरी वासना और पापबुद्धिको भी कभी हृदयमें आश्रय मत दो। आश्रय पाकर इनके बढ़ते देर नहीं लगती। बढ़ जानेपर फिर ये बे-काबू हो जाती हैं और सारी इन्द्रियोंपर अपना प्रभुत्व फैलाकर मनमानी करती-कराती हैं।

अपनेको भगवान्‌के बलसे बलवान् समझकर कुवासना, कुचिन्ता और कुबुद्धिको नजदीक भी न आने दो, जोर करें तो लड़कर इनपर विजय प्राप्त करो। स्मरण रखो—तुम बड़े बलवान् हो। आत्माके समान शक्तिशाली कोई नहीं है। शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि सभी आत्माके गुलाम हैं। तुम आत्मा हो, परमात्माके सनातन अंश हो। मन, बुद्धि और उनमें निवास करनेवाले कामकी ताकत तुम्हारी ताकतके सामने तुच्छ है, बल्कि तुम्हारी ही शक्तिसे उनमें शक्ति आती है। अपनेको परमात्माके सामने दीन समझो, परंतु विषयबुद्धिके नाश करनेके लिये कभी दुर्बल मत समझो। वास्तवमें ही तुम दुर्बल नहीं हो। तुम्हारे दुर्बलताके निश्चयने ही तुम्हें दुर्बल बना रखा है। अपने स्वरूपको सँभालो और निर्भय हो जाओ।

अपनी निन्दा सुनकर न घबराओ, न उत्तेजित होओ, न शोक करो और न धैर्य ही छोड़ो। अहंकारको अलग करके अपनेको देखोगे तो निन्दाका तुमपर कोई असर नहीं दीखेगा। आत्माकी कोई निन्दा कर नहीं सकता, नाम-रूपकी निन्दा-स्तुतिमें कुछ हानि-लाभ नहीं है। जगत्में न सबकी सब समय सब निन्दा करते हैं और न स्तुति ही करते हैं। जगत्‌की निन्दा-स्तुतिकी कुछ भी परवा न करके सदा निष्कामभावसे प्रेमपूर्वक निरन्तर ईश्वरकी आज्ञा-पालन करनेमें लगे रहो।

तुम परमेश्वरकी आज्ञा समझकर किसी सत्कार्यको करते हो और वर्तमान जगत्‌के अधिकांश विद्वान् कहानेवाले लोग भी यदि तुम्हारे उस सत्कार्यके विरुद्ध मत रखते हैं तो कोई चिन्ता नहीं। अपना सत्कार्य कभी मत छोड़ो, परमेश्वरपर भरोसा रखकर अपने कर्तव्यपर डटे रहो। सच्ची बात आखिर सच्ची ही रहेगी। एक दिन दुनिया सत्यको मान लेगी और यदि न माने तब भी तुम्हारी कोई हानि नहीं है।

दुनियाकी प्रशंसा पानेके लिये, नेतृत्वके लिये, मान या धनके लिये अपना धर्म कभी मत छोड़ो। दुनियाकी प्रशंसासे कुछ भी नहीं बनता। धर्मत्यागका फल बहुत बुरा होगा। आज धर्मत्याग करनेवालोंकी प्रशंसा सुनकर भविष्यके फलसे बेखबर मत होओ।

त्याग करो, परंतु त्यागका अभिमान न करो। त्यागकी स्मृतिको भी भूल जाओ। दान करो, परंतु अहसान न करो, बदला न चाहो, उसे भूल जाओ। सेवा करो, परंतु सेवक मत कहलाओ। जो सेवा करता है और सेवक नहीं कहलाता, वही असली सेवा करता है।

सफलतापर कभी गर्व न करो, यह न समझो कि हमारी बुद्धि और शक्तिसे सफलता मिली है। ईश्वरका धन्यवाद करो और उसीकी शक्तिका प्रभाव समझो एवं दीन होकर ईश्वरसे प्रार्थना करो—'प्रभो ! तुम्हारी इच्छासे होनेवाली सफलताका अभिमान मेरे हृदयमें कभी न उत्पन्न हो, मैं तुम्हारी शक्तिके प्रभावको कभी न भूलूँ।'

मनमें सदा पवित्र भाव रखो, सबका हित चाहो, सबको उत्तम परामर्श दो, कभी न वाणीसे बुरी सम्मति दो, न अपनी करनीसे बुरी बात सिखाओ और न मनमें बुरी बात रखकर उसे वायुमण्डलमें जाने दो। जो दूसरोंमें बुरे भाव फैलानेमें सहायक होता है, वह बहुत बड़ा पाप करता है। उसका कभी हित नहीं हो सकता।

—'शिव'

मैं कौन हूँ और मेरा क्या कर्तव्य है ?

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

प्रत्येक मनुष्यको विचार करना चाहिये कि 'मैं कौन हूँ' और 'मेरा क्या कर्तव्य है ?' मैं नाम, रूप—देह, इन्द्रिय, मन या बुद्धि हूँ या इनसे कोई भिन्न वस्तु हूँ ? विचारपूर्वक निर्णय करनेसे यही बात ठहरती है कि मैं नाम नहीं हूँ, मुझे आज जयदयाल कहते हैं परंतु जब प्रसव हुआ था उस समय इसका नाम जयदयाल नहीं था। यद्यपि मैं मौजूद था। घरवालोंने कुछ दिन बाद नामकरण किया। उन्होंने उस समय जयदयाल नाम न रखकर महादयाल रखा होता तो आज मैं महादयाल कहलाता और अपनेको महादयाल ही समझता, मैं न पूर्व जन्ममें जयदयाल था, न गर्भमें जयदयाल था और न शरीरनाशके बाद जयदयाल रहूँगा। यह तो केवल घरवालोंका निर्देश किया हुआ साङ्केतिक नाम है। यह नाम एक ऐसा कल्पित है कि जो चाहे जब बदला जा सकता है और उसीमें उसका अभिमान हो जाता है। जो विवेकवान् पुरुष इस रहस्यको समझ लेता है कि मैं नाम नहीं हूँ, वह नामकी निन्दा-स्तुतिसे कदापि सुखी-दुःखी नहीं होता। जब वह मनुष्य 'नाम' की निन्दा-स्तुतिमें सम नहीं है, निन्दा-स्तुतिमें सुखी-दुःखी होता है, तब वह नाम न होनेपर भी 'नाम' बना बैठा है, जो सर्वथा भ्रमपूर्ण है। जो इस रहस्यको जान लेता है उसमें इस भ्रमकी गन्धमात्र भी नहीं रहती। इसीलिये श्रीभगवान्ने तत्त्ववेत्ता पुरुषोंके लक्षणोंको बतलाते हुए उन्हें निन्दा और स्तुतिमें सम बतलाया है—

'तुल्यनिन्दास्तुतिः ·········· ' (गीता १२। १९)

'तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः' (गीता १४। २४)

फिर यह प्रसिद्ध भी है कि जयदयाल 'मेरा' नाम है 'मैं' जयदयाल नहीं हूँ। इससे यह सिद्ध हुआ नाम 'मैं' नहीं हूँ।

इसी प्रकार रूप—देह भी मैं नहीं हूँ, क्योंकि देह जड है और मैं चेतन हूँ, देह क्षय, वृद्धि, उत्पत्ति और विनाशधर्मवाला है, मैं इनसे सर्वथा रहित हूँ। बालकपनमें देहका और ही स्वरूप था, युवापनमें दूसरा था और अब कुछ और ही है, किंतु मैं तीनों अवस्थाओंको जाननेवाला तीनोंमें एक ही हूँ। किसी पुरुषने मुझको बाल्यावस्थामें देखा था, अब वह मुझसे मिलता है तो मुझे पहचान नहीं सकता। देहका रूप बदल गया। शरीर बढ़ गया, दाढ़ी-मूँछें आ गयीं। इससे वह नहीं पहचानता। किंतु मैं पहचानता हूँ, मैं उससे कहता हूँ, आपका शरीर युवावस्थासे वृद्ध होनेके कारण उसमें कम अन्तर पड़ा है, इससे मैं आपको पहचानता हूँ। मैंने आपको अमुक जगह देखा था। उस समय मैं बालक था, अब मेरे शरीरमें बहुत परिवर्तन हो गया, अतः आप मुझे नहीं पहचान सके। इससे यह सिद्ध होता है कि शरीर 'मैं' नहीं हूँ। 'शरीर मैं हूँ' ऐसा अभिमान भी पूर्वोक्त नामके समान ही सर्वथा भ्रमपूर्ण है। जो पुरुष इस रहस्यको जानते हैं वे शरीरके मानापमान और सुख-दुःखमें सर्वथा सम रहते हैं। क्योंकि वे इस बातको समझ जाते हैं कि मैं शरीरसे सर्वथा पृथक् हूँ। इसीलिये तत्त्ववेत्ताओंके लक्षणोंमें भगवान् कहते हैं—

'समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।'

(गीता १२। १८)

'मानापमानयोस्तुल्यः' (गीता १४। २५)

'समदुःखसुखः' (गीता १४। २४)

अतएव विचार करनेसे यह प्रत्यक्ष सिद्ध होता है कि यह जड शरीर मैं नहीं हूँ, मैं इस शरीरका ज्ञाता हूँ और प्रसिद्धि भी यही है कि शरीर 'मेरा' है। मनुष्य भ्रमसे ही शरीरमें आत्माभिमान करके इसके मानापमान और सुख-दुःखसे सुखी-दुःखी होता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि मैं शरीर नहीं हूँ।

इसी तरह इन्द्रियाँ भी मैं नहीं हूँ। हाथ-पैरोंके कट जाने, आँखें नष्ट हो जाने और कानोंके बहरे हो जानेपर भी मैं ज्यों-का-त्यों पूर्ववत् रहता हूँ, मरता नहीं। यदि मैं इन्द्रिय होता तो उनके विनाशमें मेरा विनाश होना सम्भव था। अतएव थोड़ा-सा भी विचार करनेपर यह प्रत्यक्ष प्रतीत होता है कि मैं जड इन्द्रिय नहीं हूँ, वरं इन्द्रियोंका द्रष्टा या ज्ञाता हूँ।

इसी प्रकार मैं मन भी नहीं हूँ। सुषुप्तिकालमें मन नहीं रहता, परंतु मैं रहता हूँ। इसीलिये जागनेके बाद मुझको इस बातका ज्ञान है कि मैं सुखसे सोया था। मैं मनका ज्ञाता हूँ। दूसरोंकी दृष्टिमें भी मनके अनुपस्थितिकालमें (सुषुप्ति या मूर्च्छित-अवस्थामें) मेरी जीवित सत्ता प्रसिद्ध है। मन विकारी है, इसमें भाँति-भाँतिके संकल्प-विकल्प होते रहते हैं। मनमें

होनेवाले इन सभी संकल्प-विकल्पोंका मैं ज्ञाता हूँ। खान, पान, स्नान आदि करते समय यदि मन दूसरी ओर चला जाता है तो उन कामोंमें कुछ भूल हो जाती है, फिर सचेत होनेपर मैं कहता हूँ, मेरा मन दूसरी जगह चला गया था, इस कारण मुझसे भूल हो गयी। क्योंकि मनके बिना केवल शरीर और इन्द्रियोंसे सावधानीपर्वूक काम नहीं हो सकता। अतएव मन चञ्चल और चल है, परंतु मैं स्थिर और अचल हूँ। मन कहीं भी रहे, कुछ भी संकल्प-विकल्प करता रहे, मैं उसको जानता रहता हूँ, अतएव मैं मनका ज्ञाता हूँ, मन नहीं हूँ।

इसी तरह मैं बुद्धि भी नहीं हूँ, क्योंकि बुद्धि भी क्षय और वृद्धि-स्वभाववाली है। मैं क्षय-वृद्धिसे सर्वथा रहित हूँ। बुद्धिमें मन्दता, तीव्रता, पवित्रता, मलिनता, विकार, व्यभिचारादि होते हैं, परंतु मैं उसकी इन सब स्थितियोंको जाननेवाला हूँ। मैं कहता हूँ उस समय मेरी बुद्धि ठीक नहीं थी, अब ठीक है। बुद्धि कब क्या विचार रही है और क्या निर्णय कर रही है इसको मैं जानता हूँ। बुद्धि दृश्य है, मैं उसका द्रष्टा हूँ। अतएव बुद्धिका मुझसे पृथक्त्व सिद्ध है, मैं बुद्धि नहीं हूँ।

इस प्रकार मैं नाम, रूप—देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि प्रभृति नहीं हूँ। मैं इन सबसे सर्वथा अतीत, इनसे सर्वथा पृथक्, चेतन, साक्षी, सबका ज्ञाता, सत्, नित्य, अविनाशी, अविकारी, अक्रिय, सनातन, अचल और समस्त सुख-दुःखोंसे रहित केवल शुद्ध आनन्दमय आत्मा हूँ। यही मैं हूँ। यही मेरा सच्चा स्वरूप है।

क्लेश, कर्म और सम्पूर्ण पापोंसे विमुक्त होकर परम शान्ति और परमानन्दकी प्राप्तिके लिये ही मनुष्य-शरीरकी प्राप्ति हुई है। इस परम शान्ति और परमानन्दको प्राप्त करना ही मनुष्यका एकमात्र कर्तव्य है। मनुष्य-शरीरके बिना अन्य किसी भी देहमें इसकी प्राप्ति सम्भव नहीं है। इस स्थितिकी प्राप्ति तत्त्वज्ञानसे होती है और वह तत्त्वज्ञान विवेक, वैराग्य, विचार, सदाचार और सद्‌गुण आदिके सेवनसे होता है। और इन सबका होना इस घोर कलिकालमें ईश्वरकी दयाके बिना सम्भव नहीं। यद्यपि ईश्वरकी दया सम्पूर्ण जीवोंपर पूर्णरूपसे सदा-सर्वदा है, किंतु बिना उनकी शरण हुए उस दयाके रहस्यको मनुष्य समझ नहीं सकता। एवं दयाके तत्त्वको समझे बिना उस दयाके द्वारा होनेवाले लाभको वह प्राप्त नहीं कर सकता। अतएव तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिये सब प्रकारसे ईश्वरके शरण होकर उनकी दयाके रहस्यको समझकर उससे पूर्ण लाभ उठाना चाहिये। ईश्वरकी शरणसे ही हमें परम शान्ति मिल सकती है। श्रीभगवान् कहते हैं—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

(गीता १८। ६२)

'हे भारत! सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो, उस परमात्माकी कृपासे ही तू परम शान्ति और सनातन परम धामको प्राप्त होगा।'

जब यह मनुष्य परमेश्वरके शरण होकर परमेश्वरके तत्त्वको जान जाता है, तब उस परमेश्वरकी कृपासे अज्ञान-नाश होकर वह परमेश्वरको प्राप्त हो जाता है। जैसे निद्राके नाशसे मनुष्य जाग्रत्‌को, दर्पणके नाशसे प्रतिबिम्ब बिम्बको तथा घटके फूटनेसे घटाकाश महाकाशको प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार अज्ञानके नाशसे यह जीवात्मा विज्ञानानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जाता है। जब यह साधक नाम, रूप—देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिसे अपनेको सर्वथा पृथक् समझ लेता है, तब यह ईश्वरके शरण होकर ईश्वरकी कृपासे, देहादि-सम्बन्धसे होनेवाले समस्त क्लेशों और पापोंसे सदाके लिये सर्वथा मुक्त हो जाता है एवं विज्ञानानन्दघन परमात्माका सनातन अंश होनेके कारण सदाके लिये उस विज्ञानानन्दघन प्रभुको प्राप्त हो जाता है। प्रभुको प्राप्त करनेके लिये अनन्यभावसे इस प्रकार प्रयत्न करना और प्रभुको प्राप्त हो जाना ही मनुष्यका परम कर्तव्य है।

रे मनुष्य! तू दीन होकर घर-घर क्यों भटकता है! तेरा पेट तो सेरभर आटेसे ही भर जाता है। सुना है, भगवान् तो उस समुद्रको भी भोजन पहुँचाते हैं जिसका शरीर चार सौ कोस लम्बा-चौड़ा है। संसारमें कोई भूखा नहीं रहता। चींटी और हाथी सभीका पेट भगवान् भरते हैं। अरे मूर्ख! तू विश्वास क्यों नहीं करता?

—सुन्दरदासजी

श्रीकृष्णकी आह्लादिनी शक्ति—श्रीराधा

(डॉ॰ श्रीकौशलनन्दनजी गोस्वामी, एम्॰ ए॰ (हिन्दी-संस्कृत), पी-एच्॰ डी॰, संगीत-प्रभाकर)

विभिन्न सम्प्रदायोंमें राधाके स्वरूप और शक्तिका वर्णन अपनी-अपनी मान्यताके अनुरूप किया गया है। राधाको कृष्णके समान ही अनादि और अनन्त माना गया है। रासमण्डलके 'रा' और 'धा' धातुके धाको ग्रहण करके राधा नामकी व्युत्पत्ति मानी गयी है। राधाका अर्थ है—आराधना करनेवाली। 'राधोपनिषद्'में 'राधा' शब्दकी प्रतीकात्मक व्युत्पत्ति बतायी गयी है। **'कृष्णेन आराध्यत इति राधा, कृष्णं समाराधयति सदेति वा राधिका।'** अर्थात् कृष्णद्वारा जिनकी आराधना की जाती है, अतः ये राधा हैं तथा जो सदैव कृष्णकी आराधना करती हैं, इसलिये राधिका कही जाती हैं। राधा-कृष्ण परस्पर एक-दूसरेकी आराधना करते हैं। श्रीकृष्ण दिव्य-चिन्मय आनन्दस्वरूप हैं तो राधा दिव्य-चिन्मय प्रेम-स्वरूपा हैं। राधा प्रेमकी कल्पलता हैं, जो प्रियतम श्रीकृष्णके चरणोंमें पूर्णतया समर्पित हैं। वह कृष्णमयी नव-किशोरी हैं, जो दिव्य एवं लोकोत्तर रूप-गुणों और विलास-वैदग्ध्य आदिसे गोविन्दको विमोहित और आनन्दित करती हैं। वस्तुतः राधा कृष्णकी ह्लादिनी शक्ति हैं। चैतन्य-चरितामृतमें भी लिखा है—

कृष्णके आह्लादे ताते नाम आह्लादिनी।
सेइ शक्ति द्वारे सुख आस्वादे आपनी॥
सुख रूप कृष्ण करे सुख आस्वादन।
भक्तगणे सुख दिते ह्लादिनी कारन॥

राधा भक्तोंको भी आनन्द प्रदान करती हैं, इसलिये भी वे आह्लादिनी कही जाती हैं।

पुष्टिमार्ग (ईश्वरानुग्रह) के प्रवर्तक तथा शुद्धाद्वैत सिद्धान्तके समर्थक गोस्वामी वल्लभाचार्यजीने युगल-स्वरूपकी लीलाओंका वर्णन करते हुए राधाको श्रीकृष्णकी ह्लादिनीशक्ति या रसशक्ति माना है। इनकी दृष्टिमें राधा श्रीकृष्णका ही रूपान्तर है। चिनगारी और अग्निके समान इनमें भी अभेद सम्बन्ध है। **'एकोऽहं बहु स्याम्'** के अनुरूप ही भगवान्की इच्छाशक्तिरूप भेद भासित होता है। राधा और कृष्ण निःसंदेह एक ही हैं। भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं आनन्द-निधान हैं, किंतु आनन्दानुभूति और स्मरण कराना शक्तिका कार्य है, अतः राधा श्रीकृष्णकी सुखानुभूतिमें सहयोगिनी रहती हैं।

इस सम्प्रदायके अनुयायी अष्टछापीय कवि सूरदास, परमानन्ददास, कुम्भनदास, कृष्णदास, नन्ददास, चतुर्भुजदास, गोविन्दस्वामी और छीतस्वामीने भी इस पद्धतिको अपनाकर श्रीकृष्णके साथ-साथ राधाके स्वरूपका भी प्रतिपादन किया है। राधा सदैव कृष्णकी सहचरी हैं तथा उनके आनन्दमें ही सुखानुभूति करती हैं। सूरकी राधा कृष्णके रंगमें रँगी हैं तथा वे श्रीकृष्णकी प्रियतमा हैं। सूरदासने कहा भी है—

राधा स्याम स्याम राधा रंग।
पिय प्यारी कौं हिरदै राखत, प्यारी रहति सदा हरि कै संग॥

राधाको देखे बिना श्रीकृष्ण व्याकुल हो जाते हैं। उनका सामीप्य श्रीकृष्णको अत्यन्त सुखद लगता है—

कबहुँ स्याम जमुना-तट जात।
कबहुँ कदम चढ़त मग देखत, राधा बिनु अतिहीं अकुलात॥
कबहुँ जात बन कुंज धाम कौ, देखि रहत नहिं कछू सुहात।
तब आवत वृषभानु पुरी कौं, अति अनुराग भरे नँदतात॥
प्यारी हृदय प्रगटहीं जानति, तब वह मनहीं माँझ सिहात।
सूरदास नागरि के उर मैं, निवसे नागर स्यामल गात॥

निःसंदेह राधा श्रीकृष्णके आनन्द और जीवनका आधार हैं। व्रजमें श्रीकृष्णकी संयोग-क्रीडामें राधा पूर्णतया सहभागिनी हैं। प्रतिदिनकी लीलाओंके साथ-साथ विभिन्न त्योहारोंमें भी आह्लादिनी राधा विद्यमान रहती हैं। राधा श्रीकृष्णके समान ही गान-कला और रास-नृत्यमें भी प्रवीण हैं। ***'गावत राग मलार भामिनी, पहिरै झूमक सारी', 'गावति गिरिधरन संग परम मुदित रास रंग, उरप तिप लेत तान नागर नागरी', 'रास में गोपाल लाल नाचत, मिलि भामिनी'*** आदि पदोंमें राधाकी संगीत-सिद्धिताका परिचय मिलता है, जिससे वह श्रीकृष्णका मोदन करती हैं। राधा श्रीकृष्णकी अनन्य उपासिका हैं। श्रीकृष्णके मथुरा जानेके पश्चात् वृषभानुनन्दिनीकी दशा सूरके पदमें दर्शनीय है—

अति मलीन वृषभानु-कुमारी।
हरि स्रम-जल भीज्यो उर अंचल तिहिं लालच न धुवावति सारी॥

गौडीय सम्प्रदायके प्रचारक श्रीचैतन्य महाप्रभुने राधा-कृष्णके युगल रूपके चरणोंकी उपासनाको मान्यता दी है। 'चैतन्य-चरितामृत' में अनन्त शक्तियोंके आगार श्रीकृष्णकी तीन प्रमुख शक्तियाँ हैं—चित्-शक्ति (अन्तरङ्गा), माया-शक्ति (बहिरंगा) तथा जीव-शक्ति (तटस्था-शक्ति)। राधा श्रीकृष्णकी अन्तरङ्गा शक्ति हैं, जिसमें श्रीकृष्णका स्वरूप और प्रभाव विद्यमान है। अन्तरङ्गा शक्तिके भी तीन भेद हैं—सन्धिनी, संवित् और ह्लादिनी। ह्लादिनी शक्तिका सार प्रेम है तथा प्रेमका भी परम सार मादन नामक महाभाव है। मादनाख्य महाभावकी साक्षात् मूर्ति राधा श्रीकृष्णकी ह्लादिनी शक्ति हैं जो अहर्निश उन्हें आनन्दास्वादन कराती रहती हैं। कस्तूरी और उसकी गंधकी भाँति राधा और कृष्ण अभिन्न हैं। इसमें राधाको परकीयाके रूपमें ग्रहण किया गया है। चैतन्य-सम्प्रदायके अनुयायी भक्त कवियोंमें रामराय, गदाधर भट्ट, सूरदास, मदनमोहन, नन्दगोपाल, भगवानदास, माधवदास माधुरी, भगवतमुदित तथा प्रबोधानन्द सरस्वती इत्यादि प्रमुख हैं। इन कवियोंने संगीतके साहचर्यसे राधा-कृष्णके झूला झूलने, कुंजोंमें विचरण करने, रास-नृत्य करने, होली खेलने आदिकी ललित लीलाओंका ललाम वर्णन किया है। इन वर्णनोंमें राधाकी महत्त्वपूर्ण भूमिका देखी जाती है। होलीके प्रसंगमें राधा गोकुलचन्द्र कृष्णके आनन्दकी अभिवृद्धि करती हैं। जैसे—

खेलि खेलि हो लड़ैती राधे ताको फब्यौ है बसंत।
सुनि हो भामिनी दामिनी-सी तें पायौ स्याम घन कंत॥

सूरदास मदनमोहनने ***'मोहनलालके संग ललना ज्यौ सोहै, जैसे तरुण तमालके ढिंग फल सोनो जरद कौ।'*** पदमें राधाकी अभिन्नताको ही दर्शाया है। ह्लादिनी शक्तिरूपा राधा श्रीकृष्णके हृदयमें स्थित प्रेम-रस-निधिसे प्रकट हुई हैं। जैसा कि 'आदिवाणी' में रामरायने लिखा है— ***'कृष्ण हृदय-रस निधि सों प्रगटीं आनन्द की आह्लादिनी गाई।'*** इसीलिये इस सम्प्रदायके कवियोंने ***'जयति श्रीराधिके सकल सुख साधिके'***—जैसे स्तुतिपरक पदोंकी रचना की है। ***'झूलत अलबेलो अलबेली'***, ***'जुगल वर क्रीडत जमुना-तीर'***, ***'प्रीतम प्यारी राजत रंग महल'*** आदिमें राधाकी अवस्थितिका बोध होता है।

राधावल्लभीय सम्प्रदायके प्रवर्तक स्वामी हितहरिवंश राधा और कृष्णकी युगल उपासनाके समर्थक हैं, किंतु इस सम्प्रदायमें राधाकी भक्तिका प्राधान्य रहा। इसमें राधा-कृष्णकी शृङ्गारिक क्रीडाओंमें भी क्रीडाको अद्भुत ढंगसे प्रस्तुत किया गया है। राधा शृङ्गारिक चेष्टाओंकी सहयोगिनी ही नहीं, अपितु आनन्ददायिनी बन गयी हैं। राधा आनन्दकन्द श्रीकृष्णकी रुचिके अनुरूप क्रियाएँ करती हैं।

हितहरिवंश और हरिराम व्यास इस सम्प्रदायके प्रमुख कवि माने जाते हैं, जिन्होंने राधिकाको अनन्यसुन्दरी तथा नृत्य-गान-विशारद दर्शाया है। जैसे—

लागि कदुर उरप सप्त सुर सौं सुलप लोरी,
सुन्दरि सुघर राधिका नामिनी।

व्यासजीके ***'नागरी नटनारायण गायौ', 'सारंग नैनी चली अलि संग, सुनी सारंग की तान'***—जैसी रचनाओंमें राधा संगीतशास्त्रकी मर्मज्ञा और रूपवती सिद्ध होती हैं।

दुलहिन बननेका सौभाग्य राधाको ही प्राप्त हुआ है। ***'सहज दुलहिनी श्रीराधा सहज साँवरो दूलह'***—इस पदको पढ़कर राधा-कृष्णकी अद्भुत छबिका आभास हो जाता है। राधा भक्तकवियोंके आनन्दानुभूतिकी माध्यम हैं। अतः उन्होंने राधाकी आराधना भी की है। जैसे—

व्यास स्वामिनी की छबि निरखति, विमल विमल जस गाइँ।

हरिदासी सम्प्रदायमें राधा-कृष्णकी युगल उपासना सखी-भावसे की गयी है। हरिदास, विट्ठल विपुल और बिहारिनदास इस सम्प्रदायके प्रमुख कवि हैं। इनकी राधा रासेश्वरी किशोरीजी हैं, जो रसिकशिरोमणि श्रीकृष्णकी सेवामें तत्पर रहती हैं। किशोरीजी प्रियतमके साथ रस-विलास करती हुई उन्हें आनन्दित करती हैं।

किशोरीजी श्रीकृष्णकी स्वामिनी, अनिन्द्यसुन्दरी और श्रीकृष्णके आकर्षणका केन्द्र हैं, जैसा कि ***'सब ठाकुर कौ ठाकुर हरि ता ठाकुर की ठाकुर ठकुराइन', 'मोकों इतौ साज कहाँ री प्यारी, हों अति दीन, तुव बस', 'जोन्ह में जोन्ह सी'***—इन पंक्तियोंमें द्रष्टव्य है।

हरिदासजीके पदोंमें हँसना, रूठना, मनाना, ताम्बूल खिलाना, झूला झूलना आदिके वर्णन अद्भुत सुखानुभूतिप्रद

हैं। श्रीकृष्णको आह्लादित करनेके लिये वह नृत्यमें *'मुसकनि मुखमोरि, परिरम्भव रस रोरी'* आदिकी अभिव्यक्ति करती है।

निम्बार्क-सम्प्रदायमें मधुर भावको उत्कृष्ट माना गया है। युगल उपासनामें भी राधाकी उपासनापर बल दिया गया है। राधा प्रेम और माधुर्यकी अधिष्ठात्री और ह्लादिनी शक्ति हैं। इस सम्प्रदायके अनुकर्ता कवि श्रीभट्ट और परशुराम प्रमुख हैं।

परशुरामजीके पद *'हरिरास रच्यो केलि करण कौं'* में रासका वर्णन है। राधा रासरसेश्वरी हैं तथा नृत्य-भंगिमाओंसे रसिकशिरोमणि श्रीकृष्णको रिझाती हैं।

निष्कर्ष यह है कि विभिन्न सम्प्रदायोंके आचार्यों तथा उनके अनुकर्ता कवियोंने राधाको श्रीकृष्णकी रसशक्ति—आह्लादिनी शक्तिके रूपमें ग्रहण किया है। श्रीकृष्ण इस शक्तिके साहचर्यसे विभिन्न लीलाएँ करते हैं। राधा श्रीकृष्णका ही दूसरा रूप है। श्रीराधा-कृष्णका युगल स्वरूप परमानन्द रसात्मक-रूप है, जो लीला-हेतु दो रूपोंमें उद्भासित होता है। आनन्दकन्द श्रीकृष्णने आनन्दकी सृष्टिके लिये ही आनन्ददायिनी शक्ति राधाका रूप धारण किया। श्रीकृष्ण और राधाका किशोर-किशोरी-रूप, माधुर्य-भाव तथा नृत्य-संगीतकी सर्जना भी भक्तिके चरमोत्कर्षमें सहायक रही है। अस्तु, श्रीकृष्णकी ह्लादिनी शक्ति राधा जीवनकी सार्थकता और आनन्द-सृष्टिके लिये वरदान हैं। श्रीराधा अपने तरुणिम रसोल्लासमें प्रतिष्ठित होकर श्रीकृष्ण-भक्तिका आनन्दमय मार्ग प्रशस्त करती हैं। भक्त लोग उनके पावन चरित्रों एवं लीलाओंका स्मरण-मननकर भगवान् राधा-कृष्णकी विशुद्ध भक्ति प्राप्तकर कृतार्थ होते हैं। यह दिव्य चरित्र इतना सरस एवं आनन्ददायक है कि जितना ही पान किया जाय उतनी ही पिपासा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है और कभी परितृप्ति नहीं होती, यही राधा-माधवके दिव्य चरित्रकी अद्भुत विशेषता है।

अनबूझ पहेली

(श्रीबालकृष्णजी गर्ग)

जीवन है अनबूझ पहेली !

जितनी इसको सुलझाते हैं, उतनी और उलझती जाती,
चाहे जितने गहरे जायें, इस सागरकी थाह न आती।
जब-जब इसे पकड़ना चाहा, हाथ नहीं आयी अलबेली ॥ जीवन है० ॥

एक समय जीवन-गुलशनमें लेती थीं चटखारे कलियाँ,
पत्ते-पत्ते रंग बरसता, फूलोंकी वादी थीं गलियाँ।
बिखर गयीं जब आज पाँखुरी, पवन नहीं करता अठखेली ॥ जीवन है० ॥

जाने जीव कहाँसे आया, और कहाँ प्रस्थान कर गया,
किसने घर आबाद किया था, खाली कौन मकान कर गया ?
छोड़-छाड़कर गहने-कपड़े, कहाँ छिप गयी नार-नवेली ॥ जीवन है० ॥

यह मेरा है, वह मेरा है, जीवन हाय-हायमें बीता,
हमने समझा घड़ा भर रहा, किंतु रहा रीते-का-रीता।
कौड़ी-कौड़ी जोड़ी, लेकिन भागे खाली हाथ-हथेली ॥ जीवन है० ॥

जाने कब उड़ जाये पंछी, कोई जान न पाया अबतक,
धन-यौवन-पद-मदमें पगले ! क्यों फिर तू भरमाया अबतक ।
घड़ी-दो-घड़ी राम सुमिर ले, चार दिनोंकी है रँगरेली ॥ जीवन है० ॥

भगवान्के आश्वासनपर विश्वास करो

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

[गताङ्क पृ० सं० ७७५ से आगे)

वास्तवमें मनुष्य-जीवनका परम उद्देश्य भगवान्के चरणारविन्दोंका अनुराग प्राप्त करना ही है। परंतु यह तभी हो सकता है जब जीव परमात्माको अपना एकमात्र आश्रय बनाकर सब प्रकारसे आत्मसमर्पण कर दे। और यह वस्तुतः बहुत कठिन बात नहीं, बल्कि भगवत्कृपाके बलसे बहुत ही सहज है। जो लोग ऐसा मानते हैं कि हमारे भाग्यमें भगवत्प्राप्ति लिखी ही नहीं, हमारे वैसे संस्कार ही नहीं, वे वास्तवमें बड़ी भूल करते हैं। भगवान्के दरबारका दरवाजा सबके लिये सदा खुला रहता है, वह कभी बंद होता ही नहीं। चाहे कोई आधीरातको अपने प्रियतम परमात्माका द्वार खटखटावे, वे तत्काल उसकी पुकारका उत्तर देकर उसे अपने हृदयसे लगानेको तैयार मिलेंगे। बच्चा जब कभी भी रोककर माँको पुकारता है तो माँ समय-असमयका विचार न कर झटसे अपनी स्नेहभरी गोदमें उठाकर उसे स्तन-पान कराने लगती है। पुकार सुननेपर न तो वह बच्चेका पाप-पुण्य देखती है और न क्षणभर रुकती ही है। उस समय वह स्नेहकातरा जननी केवल दोनों हाथ बढ़ाकर बच्चेको ऊपर उठाना और पुचकारना ही जानती है। फिर भला, भगवान् तो सारी माताओंकी माता—स्नेहके सागर हैं। माँ तो किसी समय शायद दूर रहनेके कारण न भी सुने अथवा किसी दूसरे काममें लगी हो तो उसे पूरा करके भी आवे, पर भगवान्में ये दोनों बातें नहीं। वे कहीं दूर नहीं हैं—सर्वदा सर्वत्र पूर्ण हो रहे हैं। वे तो मन्दिरमें, मूर्तिमें, बाहर-भीतर सर्वत्र समभावसे सदा-सर्वदा रम रहे हैं, पूर्ण हो रहे हैं। वे सर्वशक्ति-सम्पन्न हैं। एक कामको करते हुए दूसरेको न कर सकें—ऐसी कठिनाईका उनके लिये कोई प्रश्न ही नहीं। वे एक ही समय असंख्य स्थानोंमें प्रकट होकर असंख्य काम कर सकते हैं। और ऐसा करते हुए भी वे सर्वत्र पूर्ण ही रहते हैं। अतः कोई किसी भी कारणसे कभी भी उन्हें पुकारे, वे सुनते हैं और उत्तर देते हैं। उन्हें पुकारनेमें ही कसर है—यह जीवकी ओरसे ही देरी हो रही है।

उन्हें पुकारनेमें किसी काल, स्थान, पात्र आदिका कोई भेद नहीं है। पापी न पुकारे पुण्यात्मा ही पुकारे, नरकमें न पुकारे स्वर्गमें पहुँचकर पुकारे, आधीरातको न पुकारे उषाकालमें पुकारे, मूर्ख न पुकारे विद्वान् पुकारे, गरीब न पुकारे धनी ही पुकारे, स्त्री या बालक न पुकारे पुरुष ही पुकारे, चाण्डाल न पुकारे ब्राह्मण ही पुकारे, गृहस्थ न पुकारे संन्यासी ही पुकारे, इस प्रकार उनकी पुकारके सम्बन्धमें ऐसी कोई बात नहीं। देवर्षि नारद कहते हैं—

'नास्ति तेषु जातिविद्यारूपकुलधनक्रियादिभेदः।'

भक्तोंमें जाति, विद्या, रूप, कुल, धन, क्रिया आदिका भेद नहीं है।

पुकार सच्ची होनी चाहिये, पुकारनेवाला कौन है—वे इस बातको नहीं देखते, अवश्य ही पुकारनेवालेकी चाहकी परख करते हैं। ऊपरकी दिखाऊ पुकार उनकी स्नेह-धाराको उमड़ानेमें समर्थ नहीं हो सकती। वे हमारे अंदरकी बात जानते हैं—हमारे भीतरका कोई भेद उनसे छिपा नहीं है। ऊपरकी पुकार होगी तो वे समझ लेंगे कि यह कोरी ठगई है। मनमें चाह नहीं है। कोई ऐसा हो जिसके मनमें पुकार मची हो, परंतु किसी कारणवश बाहरसे न पुकार सकें तो उस पुकारको भी वे सुन लेते हैं। उनको हृदयके कपटहीन शब्दोंकी आवश्यकता है, बाह्य शब्दोंकी नहीं। श्रीरामचरितमानसमें भगवान्के वचन हैं—

पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोइ।
सर्ब भाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ॥

भक्तिमती शबरीको उन्होंने अपने विरदका भेद स्पष्ट शब्दोंमें यही बतलाया—

'मानउँ एक भगति कर नाता॥'

वास्तवमें यही है भी यथार्थ। भगवान् कहते हैं—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

(गीता ९। २९)

'मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है और न कोई प्रिय, परंतु जो भक्त मुझे प्रेमसे भजते हैं वे मेरेमें और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ।' जैसे सूर्य

किसीको अपना प्रकाश या गर्मी देनेसे इनकार नहीं करता, पर जो उसके सामने आकर बैठता है उसीको प्रकाश और गर्मीकी अधिक प्राप्ति होती है। जो अपने घरके किंवाड़ ही बंद करके बैठ जाय उसके लिये सूर्य क्या करे ? इसी प्रकार भगवान्के सम्मुख होनेवाले ही पापमुक्त होकर भगवत्प्रेम प्राप्त करनेके अधिकारी हो सकते हैं—उनसे विमुख रहनेवाले नहीं। अमुक मनुष्य ही भगवत्प्रेम प्राप्त कर सकता है और अमुक नहीं कर सकता, यह भेद उनमें नहीं है। ध्रुव बालक था। उसके समयमें अनेक राजा थे, ऋषि थे, मुनि थे, पर उन सभीको भगवत्प्राप्ति हुई हो सो बात नहीं है। जिसे यह पता भी नहीं कि भगवान् क्या वस्तु हैं, जिसने कभी किसी पाठशालामें जाकर गुरुमुखसे उनके स्वरूपका वर्णन ही नहीं सुना—उनका प्रभाव ही नहीं जाना, वही नन्हा-सा बालक ध्रुव 'कमलनेत्र—पद्मपलाशलोचन' प्रभुकी खोजमें निर्भय होकर निकल पड़ा। विद्या-बुद्धि-बल-हीन बालक जब अनन्यभावसे दृढ़संकल्प होकर पुकार मचाने लगा तो वहाँ भगवान्को प्रकट होना पड़ा। उस भोले किंतु अटल निश्चयी ध्रुवको अलौकिक ज्ञान और अचल पद देकर सदाके लिये कृतकृत्य बना दिया। प्रह्लाद भी बालक ही थे, वयोवृद्ध अथवा ज्ञानवृद्ध नहीं थे। इसी प्रकारके बहुतसे उदाहरणोंसे यह बात सिद्ध होती है कि भगवद्भक्तिमें विद्या, बुद्धि, बल, आयु आदिका कोई विचार नहीं है। अमुक स्थान और अमुक समयमें ही अमुक व्यक्ति भजन कर सकता है—यह बात भी नहीं है। कालका निर्देश भी नहीं है। यदि ऐसा हो तो मरता हुआ आदमी—काल अच्छा न होनेपर सद्गतिको प्राप्त ही न हो सके। देशका बन्धन हो तो बिना किसी तीर्थ-स्थानमें गये मुक्ति ही न हो सके ! पर यह बात नहीं है। बुरे-से-बुरे देश, काल और वर्णमें जब कभी जीव निष्कपट-भावसे परमात्माको पुकारता है तभी उनकी ओरसे उसे आशापूर्ण आश्वासन मिलता है।

चक्रिक नामक एक भील जंगलमें रहा करता था। वहीं भगवान्की एक मूर्ति थी। उसे वह जड-पत्थर न मानकर प्रत्यक्ष भगवान् मानता था। घूमते-घूमते उसे वनमें जो फलादि मिल जाते, प्रभुको उनका भोग लगाकर फिर स्वयं प्रसाद पाता। एक बार उसे पियालका एक फल मिला। उसने भूलसे उसको मुँहमें डाल लिया। डालते ही उसे अपनी भूल सूझ पड़ी, पर वह गलेमें उतर चुका था। अपना कोई वश न चलता देख वह फलको नीचे न उतरने देनेके लिये गलेको जोरसे पकड़ दौड़ता हुआ मूर्तिके पास जा पहुँचा। वमनद्वारा बाहर निकालनेकी चेष्टा करनेमें कोई कसर न रखी, पर जिस प्रकार वह उसे पेटमें न गिरने देनेका हठ किये हुए था उसी प्रकार फल भी बाहर न आनेमें मचल गया। भोग लगाना जरूरी था। अन्तमें कुल्हाड़ीसे गला काटनेकी तैयारी होते ही भक्तवत्सल भगवान् अपनेको रोक न सके। प्रकट होकर हाथ पकड़ लिया ! वह जातिका भील था—बुद्धिसे हीन था, पर था सच्चे हृदयसे पुकार मचानेवाला ! कोई हो, होना चाहिये केवल सच्चा प्रेमी—अन्तस्तलसे पुकारनेवाला भक्त !

यह निर्विवाद सिद्ध है कि भगवत्प्राप्तिमें केवल निष्कपट पुकारकी ही अपेक्षा है—अन्य किसी बातकी नहीं। जिस क्षण सच्ची पुकार होगी, उसी क्षण परमात्माका आश्रय मिल सकेगा, इसमें कोई निश्चित कालकी अपेक्षा नहीं है। भोगोंकी प्राप्तिमें काल आदि निश्चित होता है। उचित अवसरपर ही उनकी प्राप्ति हो सकती है। परंतु भगवत्प्राप्तिके लिये कोई बन्धन नहीं है। इसमें प्रारब्ध कुछ भी बाधा नहीं दे सकता। जब जीव व्याकुल हो जाय, विरह-तापसे जल उठे, प्रियतम श्रीकृष्णके बिना रह न सके, प्यारे रामके बिना उसे तनिक भी आराम न मिले, तभी भगवान् भी उसके बिना नहीं रह सकते। उनकी तो यह घोषणा ही है—

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।'

'जो मुझको जैसे भजता है उसे मैं वैसे ही भजता हूँ।'* भगवान्का कहना बहुत ठीक है। पर वे भजते हैं अपने स्वरूप और अपनी शक्तिके अनुसार तथा जीव भजता है अपनी शक्ति और योग्यताके अनुसार ! इसलिये यदि जीव इच्छा करे तो

*इस सिद्धान्तमें देखनेपर कुछ भ्रम होता है। यदि भगवान् भक्तके अनुरूप ही उसको भजते हैं तो एक रोटीका प्रसाद चढ़ानेपर बदलेमें एक रोटी ही मिलनी चाहिये। एक घण्टा ध्यान करनेपर भगवान् भी एक घण्टा ध्यान ही कर लें। गजराजने पुकारा, आधा नाम लिया, तो वे भी आधा नाम ले लेते ! कोई पत्र-पुष्प-फल भेंट करता है तो वे अनन्तगुणा फल क्यों देते हैं ? इसलिये शंका होती है कि 'यह कथन ठीक नहीं।' पर भगवद्वाक्य कभी झूठे हो नहीं सकते ! तो फिर बात क्या है ? सोचनेपर पता लगता है कि भगवान् भजते हैं अपनी शक्ति और स्वरूपके

उनसे मिलनेमें देर नहीं हो सकती। यदि यह चल पड़े तो वे इतने जल्दी मिलते हैं कि जीव उतनी जल्दीकी कल्पना ही नहीं कर सकता।

जहाँ हृदयमें विरहजनित व्याकुलता उत्पन्न हुई कि फिर उसे यह आवश्यकता नहीं कि यह वैकुण्ठ जाय। वे स्वयं उसके सामने आकर अपने सुरदुर्लभ दर्शनोंसे—अपनी अलौकिक रूपमाधुरीसे उसे मत्त और कृतार्थ कर देते हैं। छः मासके बच्चेको माँके पास जाना नहीं पड़ता। माता स्वयं ही भागती हुई उसके पास आ पहुँचती है। यदि हम वैसे ही सरल हृदयके मातृपरायण बच्चे बन जायँ तो भगवान्‌रूपी जगज्जननीके आनेमें देरी ही क्या है? परायणता अवश्य ऐसी होनी चाहिये, जो सब अवस्थाओंमें रहे। जैसे माँकी मारसे बचनेके लिये भी बच्चा माँकी ही गोदमें घुसता है। माँकी गोद वास्तवमें बच्चेके लिये सदा ही खाली रहती है, बच्चा क्या करके आया है—इस बातको माता नहीं देखती। इसी प्रकार भगवान् भी यह नहीं कहते कि पापी मेरे सामने नहीं आ सकता। पापियोंके लिये स्वर्गका द्वार बंद है सही, पर भगवान्‌का द्वार तो नरकके कीड़ोंके लिये भी खुला है। वहाँ यह नहीं होता कि पहले पापोंका दुःख भोगो और फिर मेरे यहाँ आओ। जो चाहता है उसीको वैकुण्ठ मिल जाता है। तुर्रा यह कि उसके पापोंका नाश भी वे ही स्वयं कर देते हैं। बस, केवल तीव्र इच्छाकी आवश्यकता है। उन्होंने घोषणा की है—

'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।'

'अरे, तू मेरी शरण हो जा, तुझे सारे पापोंसे मैं छुड़ा दूँगा, तू चिन्ता न कर।' हम कैसे अभागे हैं कि इस घोषणाको सुनकर भी सुख-शान्ति पानेके लिये उनके मुक्तद्वारकी ओर नहीं जाते और मदमाते धनियों तथा झूठे अधिकारियोंके बंद दरवाजे खटखटाते हैं और जगह-जगह ठोकरें खाते फिरते हैं।

यदि एक बार भी उस सर्वलोकमहेश्वर, जीवोंके स्वाभाविक सुहृद्, परम प्यारे प्रभुके विरदपर विश्वासकर उसकी शरण पानेके लिये उत्कण्ठित हो उठें तो तुरंत निहाल हो जायँ। स्वयं धनियोंके धनी बन जायँ, फिर कुछ भी पाना शेष न रह जाय।

'न मे भक्तः प्रणश्यति।'

भगवान्‌की इस दिव्य वाणीको याद करो—विश्वास करो और सच्चे हृदयसे अपने शेष जीवनको उनके भजनमें लगाकर अनायास संसार-सागरसे ही तर जाओ।

कोई कुछ भी कहे

मुग्धं मां निगदन्तु नीतिनिपुणा भ्रान्तं मुहुर्वैदिका
मन्दं बान्धवसंचया जडधियं मुक्तादराः सोदराः।
उन्मत्तं धनिनो विवेकचतुराः कामं महादाम्भिकं
मोक्तुं न क्षमते मनागपि मनो गोविन्दपादस्पृहाम्॥

'नीतिनिपुण पुरुष मुझको चाहे 'मुग्ध' कहें अथवा वैदिक विद्वान् बार-बार 'भ्रान्त', बन्धु-बान्धवगण 'मन्द' कहें या सहोदर भाई आदर त्यागकर 'जडबुद्धि', धनिक-समुदाय मुझे 'उन्मत्त' कहे अथवा विवेक-चतुर पुरुष 'महान् दाम्भिक'—यों कोई कुछ भी कहे, मेरा मन श्रीगोविन्द-पदारविन्दकी सेवन-स्पृहाको त्यागनेमें समर्थ नहीं है।'

अनुसार एवं हम भजते हैं अपनी शक्ति और स्वरूपके अनुसार। मान लीजिये गरुड और एक चींटीमें मैत्री हो गयी। गरुडसे मिलनेके लिये चींटी आगे बढ़ी, पर वह बढ़ी अपनी चालसे। गरुड भी प्रेमवश आगे बढ़ा। चींटी तो थोड़ी ही दूर चली, पर गरुड तुरंत आ पहुँचा। भजते दोनों ही हैं, पर भजते हैं अपनी-अपनी हैसियतसे। राजा और कङ्गालमें मैत्री होनेपर राजा अपने मित्रको हलुआ और मोहनभोग ही खिलायेगा और कङ्गाल अपने घरपर आये हुए मित्र राजाको साग-रोटी ही खिलायेगा।। कङ्गाल मिलनेको जायगा अपनी बैलगाड़ीपर, पर राजा मिलनेको जायगा अपने वायुयानपर। इसी प्रकार जीव और भगवान्‌के प्रेममें अन्तर है। इसके पास प्रेमकी एक नन्हीं-सी बूँद है और वह है अनन्त प्रेम-सागर! इधरसे जब यह जीव अपनी उस बूँदको लेकर उसीके सहारे प्रभुके लिये बढ़ता है, तब उधरसे प्रेम-सागर उमड़ पड़ता है। यह तो थोड़ी दूर पहुँच पाता है, पर वह उधरसे आकर इसे अपनेमें समा लेता है। फिर दोनों एक हो जाते हैं। यही रसाद्वैत है—

'जब मैं था तब हरि नहीं, जब हरि हैं मैं नाहिं। प्रेम-गली अति साँकरी तामें दो न समाहिं॥'

प्रेम-दिवाने

(श्रीप्रेम-पथ-पथिक)

प्रेम-दिवाने जे भये, कहैं बहकते बैन।
कबहूँ मुँह हाँसी . छुटै, कबहूँ टपकै नैन॥

सचमुच जिन्हें प्रेमकी मस्ती चढ़ गयी है, जिन्हें प्रेमप्यालेके मतवाले मदकी एक बूँदका भी रसास्वादन करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है और जो प्रेम-पथमें दिवाने हो गये हैं, वास्तवमें वे ही उस प्रेमीके दीदारको पानेके हकदार हैं और ऐसे ही दिवाने प्रायः—

'मैं मोर बनके मोहन, नाचा करूँगा बन-बन।
तू श्याम घटा बनकर आँखोंमें समा जाना॥'

—की तान छेड़ते पाये जाते हैं। उन्हें राहगीरोंसे लज्जा नहीं, देखनेवालोंसे भय नहीं, पुलिसकी परवा नहीं और जानकारोंकी चिन्ता नहीं। वे तो अपनी ही मस्तीमें मस्त रहते हैं, अपनी ही धुनके घोड़ेपर सवार रहते हैं और अपनी अनोखी डफली बजानेमें ही लगे रहते हैं।

इन प्रेम-दिवानोंकी दुनिया ही न्यारी होती है, इनका रोना-हँसना विचित्र होता है, उठना-बैठना अनोखा होता है और खाना-पीना भी निराला होता है। इनको रोने-हँसने, जागने-सोने और रहने-सहनेका कोई पता ही नहीं रहता। देखनेवालेको मालूम होता है मानो इनकी कोई अत्यन्त प्यारी चीज खो गयी है, जिसकी तलाशमें ये रातों गलियोंकी खाक छानते फिरते हैं। यदि कहीं इन्हें ***'संतन सँग बैठ-बैठ लोक-लाज खोई'*** वाली मीरा देख ले तो वह इनके सुरमें सुर मिलाकर अवश्य गाने लगे—

हे री मैं तो प्रेम-दिवानी मेरो दरद न जाणै कोय।
सूली ऊपर सेज हमारी किस बिध सोणो होय॥
गगन-मंडलपर सेज पियाकी, किस बिध मिलणो होय।
घायलकी गति घायल जाने, जो कोइ घायल होय॥

वास्तवमें मीराने बात तो बड़े पतेकी कही है। भला, जिसे कभी प्रेम-बाण नहीं लगा हो वह इस दर्दका हाल क्या जाने। जो सूलीपर चढ़ गया है वह कैसे सोये ? सचमुच इस प्रेम-प्यालेमें एक अजीब नशा है। जिसने एक बार पी लिया, वह बेदामका गुलाम बन गया। उसे सोते-बैठते, हँसते-रोते और चलते-फिरते कभी चैन नहीं। इस मर्जकी दवा भी मिलनी मुश्किल ही है। तारीफ तो यह है कि 'ज्यों-ज्यों दवा की, मर्ज बढ़ता ही गया।' कहीं घटनेका नाम नहीं। आँखें क्या हो गयीं मानो सावन-भादोंकी उमड़ी हुई गङ्गा। इसीलिये तो महात्मा कबीरने कहा है—

प्रेम-पियाला जो पिये, सीस दच्छिना देय।
लोभी सीस न दे सके, नाम प्रेमका लेय॥

ओह ! इस दिव्य प्रेमकी आग भी बड़ी गजबकी है, जहाँ एक बार लग गयी फिर कभी बुझती ही नहीं। नींद और खाना-पीना सब हराम हो जाता है। इसका इलाज करनेवाले वैद्य-डॉक्टर भी जल्दी नहीं मिलते। कहीं एकाध नीम-हकीम मिल भी गये तो फीस इतनी माँगते हैं और ओषधिका मूल्य इतना अधिक चाहते हैं कि मरीजके मूल्यसे भी मर्जकी कीमत बढ़ जाती है। जब मीराको प्रेम-जहर सताने लगा तो मीराने अपने इस नये मर्जकी दवाके लिये न मालूम कितनी गलियोंकी खाक छान डाली, पर कोई चतुर वैद्य न मिला। अन्तमें खोजते-ढूँढ़ते उसने बिलख-बिलखकर कहा—

दरदकी मारी बन-बन डोलूँ, बैद मिल्यो नहिं कोय।
मीराकी प्रभु पीर मिटै जब बैद साँवलियो होय॥

वास्तवमें 'साँवलिया' वैद्य मिल जाय तो फिर बेड़ा पार हो जाय।

इतना होनेपर भी यह प्रेमकी आग है बड़ी शीतल, जो इसमें कूद पड़ता है, वही स्वर्गीय शीतलताका अनुभव करता है। परंतु देखनेमें यह बड़ी भयानक है। इसीसे पूरे त्यागी-विरागी भगवद्रस-रसीले ही इस सुलगती हुई आगमें कूदनेका साहस करते हैं। इसके अधिकारी उँगलियोंपर गिने जाने लायक हैं, क्योंकि—

सीस उतारै भुइँ धरै, तापर राखै पाँव।
दास कबीरा यों कहे, ऐसा हो तो आव॥

बात भी ठीक ही है। प्रेम-पथपर चलना क्या है मानो दुधारी तलवारकी धारपर चलना है। पर इससे क्या ? प्रेम-पथ-पथिक इन अड़चनोंसे डरनेवाले थोड़े ही हैं। वे तो हर समय लोहेके चने चबानेको तैयार रहते हैं और उनका एक पैर सदैव सूलीहीपर रहता है। वे तो इस बातके लिये तैयार

ही रहते हैं कि उनके सिरका गेंद बनाकर बीच बाजारमें खेला जाय। उनके शरीरकी बोटियाँ पशु और पक्षियोंको खिला दी जायँ। उन्हें कड़ी-से-कड़ी यातनाएँ दी जायँ और उन्हें नुकीले काँटोंपर इसलिये सुलाया जाय कि जिससे वे प्रेम-प्यारे मीतको एक पलके लिये भी भूल न जायँ।

प्रेम-दिवानोंकी दुनिया और हमारी दुनियामें बड़ा अन्तर है, आसमान-जमीनका फर्क है। हमारी दुनियामें प्रेमका रूप इतना बदल गया है कि हम प्रेमको समझ ही नहीं सकते। हम कामका ही प्रेमके नामपर प्रयोग करते हैं और पवित्र प्रेमको कलङ्कित तथा कलुषित करनेकी चेष्टामें अपना ही मुँह काला करते हैं। सच पूछो तो प्रेमके सच्चे अधिकारी प्रेम-दिवाने ही हो सकते हैं, जो प्रेमकी वेदीपर हँसते-हँसते बलिदान हो जानेमें अपना अहोभाग्य समझते हैं।

प्रेमके दिवाने थे भक्त हरिदासजी। यवनोंने उनके साथ कैसे-कैसे अमानुषिक अत्याचार किये, पर वाह रे प्रेम-दिवाने! तूने उफतक नहीं किया। कोड़ोंकी मारसे शरीरकी चमड़ी छिल जाने और रक्तकी धारा बहनेपर भी तूने एक वीर और सच्चे प्रेमीकी भाँति उन काजी नामधारी अत्याचारियोंके लिये भगवान्से क्या ही उत्तम प्रार्थना की। भक्त हरिदासने अपने प्रभुसे कहा—'हे प्रभु! ये भूले हुए हैं। इन भूले हुए मनुष्योंको तू क्षमा प्रदान कर। यदि इन्हें समझ ही रहती तो मेरे साथ ऐसा क्रूर व्यवहार क्यों करते। हे पतितपावन! इन पतितोंका उद्धार कर, इनके अपराधोंको क्षमा कर। हे दयासिन्धु! कहीं ऐसा न हो कि मेरे कारण इन्हें कष्ट भोगना पड़े। मुझे चाहे जितना कठोर दण्ड दे, सहर्ष स्वीकार है, पर हे नाथ! इन कुमार्गगामियोंको क्षमा प्रदान कर इन्हें सन्मार्गपर ले आ।'

प्रेमकी दिवानी थी भक्तिमती मीरा। उसे अनेक कष्ट दिये गये। उसपर अनेक लाञ्छन लगाये गये। उसके मारनेके लिये अनेकों उपाय किये गये, पर वाह री मीरा! तू तो उस प्रेमीका दीदार पा चुकी थी, तुझे तो उस प्रेम-प्यालेका चसका लग चुका था। भला, तू उसे कैसे छोड़ सकती थी। लोग हजार अत्याचार तुझपर करें। तेरे सम्बन्धी तुझे मारनेके लिये लाख उपाय करें, पर तू तो उस प्रेमीके हाथ बिक चुकी थी, जिसके राज्यमें दुःखका नाम भी नहीं और जिसके दामनकी छाँहमें दुनियाकी परवा नहीं।

बात भी ठीक है। जिसपर उस प्रभुकी दया हो जाती है, फिर वह किसीके हाथ कैसे लग सकता है। वह प्रेम-दिवाना संसारका व्यवहार जानता ही नहीं। मान-अपमानका उसे बोध ही नहीं रहता। हानि-लाभका उसे ज्ञान ही नहीं। वह तो बस, अपने प्रेमीके लिये ही बेहाल रहता है।

'प्रेम-गली अति साँकरी, तामें दो न समाहिं।'

मानवके वर्तमान कर्म, उनका बुरा फल और मानवका कर्तव्य

मानव आज बन गया दानव राक्षस निर्दय प्रेत पिशाच।
बन हत्यारा क्रूर, कर रहा नृशंसताका नंगा नाच॥
मानव, पशु, पक्षी, तिर्यक् सब कीट, पतंग हो रहे भीत।
घातक बन, निर्लज्ज गा रहा वह दुर्वृत्त शान्तिके गीत॥
नित नव नाशक शस्त्र बनाता, नित नव रचता नाश-विधान।
इसी जघन्य कर्ममें उसका व्यय हो रहा ज्ञान-विज्ञान॥
इसी आसुरीवृत्तिजनित तमसे आच्छादित उसके काम—
होते सभी वैर-हिंसाके वर्धक, दुःख-शोकके धाम॥
जीवनभर अनन्त चिन्ता-अशान्ति दुःखोंमें वह रह चूर।
मरकर भीषण नरक-यन्त्रणा भोग करेगा वह भरपूर॥
प्राणी सकल उसे नोचेंगे, खायेंगे, देंगे अति कष्ट।
हो जायेगी दुःख-यातना मिटनेकी सब आशा नष्ट॥
दुःखमयी आसुरी योनियाँ उसे मिलेंगी बारंबार।
कोई वश न चलेगा, कोई नहीं सुनेगा आर्त-पुकार॥
मानव बन होगा दरिद्र, रोगी, अपमानित अङ्ग-विहीन।
दुःख-ताप-संतप्त रहेगा नित कराहता होकर दीन॥
इन सब बातोंपर विचार कर, हिंसा छोड़, बढ़ाओ प्रेम।
किसी जीवको दुःख न देकर, करो सभीका योगक्षेम॥
सबमें देख नित्य ईश्वरको, सबका सदा करो सम्मान।
यथाशक्ति हित करो सभीका विनययुक्त दो सुखका दान॥

साधकोंके प्रति—

[दुःख-नाशका उपाय]

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराजका प्रवचन)

सन्तोंसे, शास्त्रोंसे मेरेको ऐसी बातें मिली हैं, जिनसे इस वर्तमान जीवनमें मनुष्यमात्र महान् आनन्दको प्राप्त कर सकते हैं। इसमें केश जितना भी सन्देह नहीं है। पुण्यात्मा हो, पापात्मा हो, बुद्धिमान् हो, बुद्धि कम हो, पढ़ा-लिखा हो, अपढ़ हो, भाई हो, बहन हो, सनातनी हो, बौद्ध हो, मुसलमान हो, अँग्रेज हो, कोई क्यों न हो, वह इसी जीवनमें महान् आनन्दको प्राप्त कर सकता है। उन बातोंमेंसे एक बात आज विशेषतासे कहता हूँ।

हम जो सुखी-दुःखी होते हैं, यह हमारी गलती है। इसमें गलती क्या है? लक्ष्मणजीने अध्यात्मरामायणमें निषादराज गुहसे कहा है—

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता
परो ददातीति कुबुद्धिरेषा।
अहं करोमीति वृथाभिमानः
स्वकर्मसूत्रे ग्रथितो हि लोकः॥
(२।६।६)

'सुख-दुःखको देनेवाला दूसरा कोई नहीं है। दूसरा सुख-दुःख देता है—यह समझना कुबुद्धि है। मैं करता हूँ—यह वृथा अभिमान है। सब लोग अपने-अपने कर्मोंकी डोरीसे बँधे हुए हैं।'

यही बात तुलसीकृत रामायणमें भी आयी है—

काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। निज कृत करम भोग सबु भ्राता॥
(२।९२।२)

सुख-दुःख देनेवाला दूसरा कोई है ही नहीं—यह खास सूत्र है! दूसरा दुःख देता है—यह कुबुद्धि है, कुत्सित बुद्धि है, खोटी बुद्धि है। अमुक आदमीने मेरेको दुःख दे दिया—यह सिद्धान्तकी दृष्टिसे भी गलत है। इस विषयमें एक बात तो यह है कि परमात्मा परम दयालु हैं, परम हितैषी हैं, अन्तर्यामी हैं और सर्वसमर्थ हैं। ऐसे परमात्माके रहते हुए, उनकी जानकारीमें कोई भी किसीको दुःख दे सकता है क्या? दूसरी बात यह है कि अगर दूसरा दुःख देता है तो दुःख कभी मिटनेका है ही नहीं; क्योंकि दूसरा तो कोई-न-कोई रहेगा ही। कहीं जाओ, किसी भी योनिमें जाओ, देवता बन जाओ, राक्षस बन जाओ, असुर बन जाओ, भूत-प्रेत-पिशाच बन जाओ, मनुष्य बन जाओ, दूसरा तो रहेगा ही। फिर दुःख कैसे मिटेगा? ये दोनों बातें बड़ी प्रबल हैं।

हमारे सामने सुख और दुःख दोनों आते हैं। सुख-दुःख देनेवाला दूसरा कोई नहीं है, प्रत्युत सब अपने किये हुए कर्मोंके फलको भोगते हैं। पातञ्जलयोगदर्शनमें लिखा है—**'सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः'** (२।१३) अर्थात् पहले किये हुए कर्मोंके फलसे जन्म, आयु और भोग होता है। भोग नाम किसका है? **'अनुकूलवेदनीयं सुखम्,'** **'प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम्'** और **'सुखदुःख अन्यतरं साक्षात्कारो भोगः'** अर्थात् सुखदायी और दुःखदायी परिस्थिति सामने आ जाय और उस परिस्थितिका अनुभव हो जाय, उसमें अनुकूल-प्रतिकूलकी मान्यता हो जाय, इसका नाम 'भोग' है। अब एक बात बड़े रहस्यकी, बहुत मार्मिक और कामकी है। आप ध्यान दें। आपने अच्छा काम किया है तो सुखदायी परिस्थिति आपके सामने आयेगी और बुरा काम किया है तो दुःखदायी परिस्थिति आपके सामने आयेगी। यह तो है कर्मोंकी बात। अब परिस्थितिको लेकर सुखी-दुःखी होना केवल मूर्खता है। वह परमात्माका विधान है, जो हमारे कर्मोंका नाश करके हमें शुद्ध करनेके लिये हुआ है। वह परमात्मा कैसे किसीको दुःख देगा? मैं तो यहाँतक कहता हूँ कि सुख-दुःख देनेके लिये परिस्थितिके पास समय भी नहीं है! वह बेचारी तो अपनी धुनमें जा रही है, आपको छूती ही नहीं, फिर वह आपको सुख-दुःख कैसे दे सकती है? आप सुख-दुःख मान लेते हो, जो केवल मूर्खता है। इसीलिये सत्संगसे, सद्विचारोंसे, सद्भावोंसे आदमी सदा मस्त, मौजमें रह सकता है; क्योंकि परिस्थिति दुःख देती ही नहीं। दुःख तो उसको पकड़ करके आप कर रहे हो। अनुकूल परिस्थिति मिले तो उसमें आप सुख मान लेते हो और प्रतिकूल परिस्थिति मिले तो उसमें आप दुःख मान लेते हो, यह गलती होती है आपकी। वास्तवमें परिस्थिति तो जा रही है बेचारी! दिन-

रातकी तरह यह सुखदायी-दुःखदायी परिस्थिति आती रहेगी। जैसे दिनके बाद रात और रातके बाद दिन आता रहता है, ऐसे ही सुखके बाद दुःख और दुःखके बाद सुख आता रहेगा।

मनुष्यके लिये कल्याणकी बात खुली है। मनुष्य-शरीर केवल अपना कल्याण करनेके लिये है, भोग भोगनेके लिये नहीं—*'एहि तन कर फल बिषय न भाई।'* (मानस ७।४४।१)। सुख-दुःख दो तरहके होते हैं। हमारे पास धन, सम्पत्ति, वैभव, बेटा, पोता, मकान आदि अनुकूल सामग्री है तो इसको देखकर लोग कहते हैं कि यह बहुत सुखी है। हमारे पास सामग्री नहीं है; खानेको अन्न नहीं, पहननेको वस्त्र नहीं, रहनेको मकान नहीं—ऐसी दशा है तो इसको देखकर लोग कहते हैं कि यह बहुत दुःखी है। एक तो सुख-दुःखकी यह परिभाषा है। दूसरी, जो मनमें हरदम प्रसन्न रहता है, कभी दुःखी नहीं होता, उसको सुखी कहते हैं और जो मनमें दुःखी रहता है, उसको दुःखी कहते हैं। इस प्रकार एक तो सुख-सामग्रीका नाम सुख है और दुःख-सामग्रीका नाम दुःख है तथा एक हृदयमें प्रसन्नताका नाम सुख है और हृदयमें जलनका नाम दुःख है। इनमें सामग्रीवाला सुख-दुःख तो परिस्थितिका है और हृदयका सुख-दुःख मूर्खताका है। इस मूर्खताको मिटानेकी खास जिम्मेवारी मनुष्यके ऊपर है। जैसे किसी भाषाका ज्ञान न हो तो उस अज्ञानको दूर करनेके लिये हम वह भाषा सीख सकते हैं, ऐसे ही सुख-दुःख हमारेमें है ही नहीं—इस विद्याको मनुष्यमात्र सीख सकता है। इस ज्ञानके लिये ही मानव-शरीर मिला है। अतः मानव-शरीरमें आकर सुखी-दुःखी नहीं होना है, प्रत्युत सुख-दुःख दोनोंसे ऊँचा उठना है। ऊँचा उठना क्या होता है? कि न सुख ही पहुँचता है और न दुःख ही पहुँचता है। पातञ्जलयोगदर्शनके व्यासभाष्यमें एक श्लोक आया है—

प्रज्ञाप्रासादमारुह्याऽशोच्यः शोचतो जनान्।
भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान्प्राज्ञोऽनुपश्यति॥

(१।४७ का व्यासभाष्य)

अर्थात् जैसे पर्वतपर खड़ा हुआ मनुष्य नीचे पृथ्वीपर खड़े लोगोंको देखता है, ऐसे ही प्रज्ञारूपी प्रासादपर खड़ा हुआ अशोच्य पुरुष शोक करनेवाले लोगोंको देखता है।

समाधि-अवस्थामें योगीकी बुद्धि ऋतम्भरा अर्थात् सत्यको धारण करनेवाली हो जाती है—**'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा।'** (योगदर्शन १।४८)। विवेक-विचारसे भी ऐसी बुद्धि प्राप्त हो जाती है। जैसे पृथ्वीपर कभी बाढ़ आती है, कभी आग लगती है, कभी सुखदायी परिस्थिति आती है, कभी दुःखदायी परिस्थिति आती है, तरह-तरहकी परिस्थितियाँ आती हैं, पर पर्वतपर खड़े हुए मनुष्यके पास उनमेंसे कोई भी परिस्थिति नहीं पहुँचती। वह केवल देखता है, सुखी-दुःखी नहीं होता। इसको सुख-दुःखसे ऊँचा उठना कहते हैं और ऐसी स्थिति आपकी हमारी सबकी हो सकती है।

कर्म तीन तरहके होते हैं—शुक्ल (पुण्यकर्म), कृष्ण (पापकर्म) और मिश्रित। साधारण मनुष्योंके तो ये तीन तरहके कर्म होते हैं, पर कर्मफलका त्याग करनेवाले योगीको किसी भी कर्मका भोग नहीं होता—**'कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्।'** (योगदर्शन ४।७), **'न तु संन्यासिनां क्वचित्'**, (गीता १८।१२)। उसके पास सांसारिक सुख-दुःख पहुँचते ही नहीं। जब ये पहुँचते ही नहीं तो फिर वह सुखी-दुःखी कैसे होगा? परिस्थिति कर्मनिर्मित है। जैसे कर्म किये, वैसी परिस्थिति सामने आ जाती है, पर वह सुखी-दुःखी नहीं करती। भागवतमें एक कथा आती है। बाल्यावस्थामें नारदजी महाराजकी माँ मर गयी। बालककी माँ मर जाय तो वह बड़ा दुःखी हो जाता है, पर नारदजी दुःखी नहीं हुए, प्रत्युत उन्होंने इसको भगवान्‌का मंगलमय विधान ही माना। नारदजीकी भजनमें रुचि थी। भजनमें माँ बाधक थी; अतः वह मर गयी तो भजनकी बाधा मिट गयी। इसलिये नारदजी राजी हो गये। तात्पर्य है कि परिस्थिति आदमीको दुःखी नहीं करती। वह मूर्खतासे ही दुःख पाता है। सुख-दुःखसे सब-के-सब ऊँचे उठ सकते हैं, इसमें सन्देहकी बात नहीं है।

दो बातें मूर्खतासे होती हैं कि दुःख तो दूसरेने दे दिया—**'परो ददातीति'** और सुख मैं अपने उद्योगसे कर लेता हूँ—**'अहं करोमीति।'** अगर अपने उद्योगसे सुख होता तो आज कोई दुःखी नहीं होता। दूसरेको दुःख देनेवाला कभी सुखी नहीं हो सकता—यह सिद्धान्त है।

श्रोता—कोई आदमी किसीके पीछे ही पड़ जाय दुःख देनेके लिये तो वह दुःखमें निमित्त हुआ कि नहीं?

स्वामीजी—वह तो मूर्खतामें निमित्त हुआ, दुःख तो उसको मिलनेवाला ही मिलेगा। जो दुःख देनेके लिये पीछे पड़ा है, उसको भयंकर पाप लगेगा और भयंकर दुःख भोगना पड़ेगा। परंतु जिसको दुःख मिलता है, उसका तो प्रारब्ध है। सर्वसमर्थ और परम सुहृद् परमात्माके रहते हुए परमात्माके जीते-जी कोई दुःख दे सकता है ? मैंने पहले भी एक बात सुनायी थी कि नगरके किनारे जंगलमें एक बाबाजी बैठे भजन कर रहे थे। वहाँसे कई आदमी धन लूट करके भाग रहे थे। पुलिस पीछे पड़ी थी। उन्होंने देखा कि मारे जायँगे तो बाबाजीके पास धन रखकर छिप गये, पुलिस वहाँ आयी और धन देखकर बाबाजीको मारने लगी। बाबाजी बोले—***'बधूं तू जाणे छे',*** 'हे नाथ ! सब आप जानते हो।' इसका अर्थ यह हुआ कि मैंने अपनी जानकारीमें किसीको दुःख दिया नहीं और मार पड़ रही है तो मैं जानता नहीं कि किस कर्मका फल है। हे भगवन् ! आप ही जानो, हमारेको इसका पता नहीं है। बिना कसूर मार पड़ रही है, इतनेपर भी उन्होंने किसीको दोष नहीं दिया। अतः जिसको मार पड़ती है उसमें ऐसा धैर्य चाहिये। दूसरा बेचारा दुःख दे नहीं सकता, हम अपनी मूर्खतासे दुःख पा रहे हैं। एक बात मैं और कहता हूँ। दुःख देनेवाला दुःख दे नहीं सकेगा, प्रत्युत सुख देगा ! मैंने ऐसा देखा है। दूसरा करना चाहता है अनिष्ट और हमारा होता है इष्ट। यह मेरे अनुभवकी बात है।

श्रोता—महाराजजी ! सुख-दुःख माना हुआ है, है तो नहीं !

स्वामीजी—बिलकुल माना हुआ है, तभी तो मिटता है, नहीं तो मिटे कैसे ? सत्का कभी अभाव नहीं होता। यदि सुख-दुःखकी सत्ता होती तो वह कभी मिट सकता ही नहीं। अतः सुख-दुःख है नहीं, केवल माना हुआ है। इस मान्यताको छोड़ना है।

श्रोता—यह छूटता क्यों नहीं ?

स्वामीजी—आप छोड़ते क्यों नहीं ? आप कहते हो कि छूटता नहीं है, मैं कहता हूँ कि छोड़ते नहीं हैं ! आप पकड़ना छोड़ दो तो कैसे दे देगा दुःख ? दे नहीं सकता। परंतु दुःख देनेका भाव रखनेवाला दोषी, पापी जरूर बनेगा, इसमें सन्देह नहीं है। अब एक बहुत बड़ी भूल बताता हूँ। हम जिससे दुःख मिटे, उस उपायको न करके परिस्थिति बदलनेका उद्योग करते हैं, जो सर्वथा निष्फल है। निर्धन है तो धनवान् हो जाय, रोगी है तो नीरोग हो जाय, अपमानित है तो सम्मानित हो जाय, निन्दनीय है तो प्रशंसनीय हो जाय—यह परिस्थिति बदलनेका उद्योग है, जो बिलकुल निरर्थक होगा, क्योंकि यह वृथाभिमान है—**'अहं करोमीति वृथाभिमानः।'** आप परिस्थिति बदल सकोगे नहीं। इसलिये एक मार्मिक बात बताता हूँ कि परिस्थिति न बदल करके जो परिस्थिति मिली है, उसका सदुपयोग करो। बुखार आ गया, घाटा लग गया, अपमान हो गया, निन्दा हो गयी तो अब इसका सदुपयोग कैसे करें ? कोई काँटा निकाले तो हमें पीड़ा तो होती है, पर काँटा निकलनेसे बड़ा भारी लाभ होता है। इसी तरह अपमान होता है, घाटा लगता है तो इससे हमारे पाप नष्ट होते हैं। प्रतिकूल परिस्थितिसे पाप नष्ट होते हैं—यह बात तो बहुत जगह मिलेगी, पर इसमें एक मार्मिक बात है कि प्रतिकूल परिस्थिति कल्याणकी साधन-सामग्री है। भोगनेसे पाप तो अपने-आप नष्ट हो जाते हैं। बिना चाहे, रोते-रोते भोगोगे तो भी पाप नष्ट हो जायँगे। परंतु उसका सदुपयोग करो तो कल्याण हो जायगा। सुखदायी परिस्थितिका सदुपयोग है—सेवा करना, दूसरेको सुख पहुँचाना। दुःखदायी परिस्थितिका सदुपयोग है—सुखकी आशा न रखना। सुखदायी परिस्थितिमें सुखका भोग करना गलती है और दुःखदायी परिस्थितिमें सुखकी आशा करना गलती है। गलती मिटाना सत्संगका काम है। सत्संगसे यह गलती मिट जायगी।

मेरे मनमें इस बातको लेकर बड़ी प्रसन्नता होती है कि मनुष्यको ऐसा मौका मिला है, जिसमें वह अपना कल्याण करके सुख-दुःख दोनोंसे ऊँचा उठ सकता है। अतः तुच्छ भोगोंमें फँसकर अपना समय बर्बाद नहीं करना चाहिये। आज दिनतक किसीको मनचाहा भोग नहीं मिला, किसीकी मनचाही बात नहीं हुई। एक व्याख्यानदाताने कहा था कि मनचाही तो रामजीके बापकी भी नहीं हुई, आप कैसे कर लोगे ?

श्रोता—कोई दुःख देता है तो बदला लेनेकी मनमें आती है; अतः क्या करना चाहिये ?

स्वामीजी—बदला लेनेकी भावना हमारी गलती है, भूल है; वह तो हमारे कर्मोंका फल भुगताकर हमें पवित्र कर रहा

है। अतः यदि आपको बदला चुकाना हो तो सबसे पहले उसकी सेवा करो। जो दुःख देनेकी चेष्टा करता है, वह (पापोंका फल भुगताकर) आपको शुद्ध कर रहा है, आपका उपकार कर रहा है। उसका बदला लेना हो तो अपने तनसे, मनसे, वचनसे, धनसे, विद्यासे, बुद्धिसे, योग्यतासे, पदसे, अधिकारसे उसकी सेवा करो, उसे सुखी बनाओ।

श्रोता—महाराजजी ! परिस्थितिका सदुपयोग करना तो ठीक है, लेकिन अगर प्रतिकूल परिस्थिति आ जाय, घाटा लग जाय तो उसका प्रतीकार तो करना ही पड़ता है !

स्वामीजी—उसके लिये मैं मना करता ही नहीं ! उसका प्रतीकार करो, धन कमाओ, धनका सदुपयोग करो, कोई विपरीत परिस्थिति न आये—इसकी सावधानी रखो। परंतु आप दुःखदायी परिस्थितिको दूर कर दोगे—यह हाथकी बात नहीं है। उद्योग करनेके लिये, कर्तव्य-कर्मका पालन करनेके लिये मैं मना करता ही नहीं। परंतु आप सुखदायी परिस्थिति बना लोगे—यह आपके हाथकी बात नहीं है। भगवान्‌ने कहा है—'**कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।**' (गीता २।४७) 'कर्तव्य-कर्म करनेमें ही तेरा अधिकार है, फलमें कभी नहीं।' अतः फल आपके अधिकारकी बात नहीं है, पर कर्तव्य-कर्म खूब डट करके, अच्छी तरहसे करना चाहिये। उसमें कभी नहीं चूकना चाहिये। परंतु किसीको दुःख देना, किसीको नीचा दिखाना—ऐसी जो धारणा है, यह महान् गलत है। इससे भयंकर दुःख पाना पड़ेगा, बच नहीं सकेगा कभी !

पूज्यपाद श्रीउड़ियाबाबाजीके उपदेश

क्रोध पापका प्रधान कारण है। पापियोंका चिह्न क्रोध है। जिसमें क्रोध है, चाहे वह कोई भी हो, उसे पापी समझना चाहिये। राग-द्वेष-मिश्रित क्रोध मनुष्यको उत्थान-प्रगतिकी ओर जानेसे रोकता है। विशेषतया गुरुजनों और श्रेष्ठजनोंके प्रति क्रोध करना ही नहीं चाहिये।

जिस किसीने राग-द्वेषमय जीवन बिताया है, वही उन्नतिकी सुनहली पगडंडीपर चलनेसे वञ्चित रहा है। आवश्यकता है, नित्यप्रति उद्दण्ड मनपर शासन करनेकी।

× × ×

गीताका एक श्लोक मुझे बहुत ही पसंद है। यह श्लोक सबके लिये उपयोगी है। सभी सम्प्रदायके लोग इससे लाभ उठा सकते हैं। सुनो—

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥

(८।८)

जिसने अभ्यासमय जीवन बिताया है, उसीने परम दिव्य पुरुषकी प्राप्ति की है।

× × ×

भेरियाके बंगालीबाबा सुनाया करते थे। एक बार ऋषिकेशकी झाड़ीमें साधु-महात्माओंका सत्सङ्ग हो रहा था। सभी अपने-अपने अनुभव प्रकट कर रहे थे। इतनेमें झाड़ीमेंसे एक बूढ़ा साधु निकला। लोगोंके बहुत आग्रह करनेपर वृद्ध साधुने कहा—'साधन दो तरहके हैं—(क) अन्तरङ्ग और (ख) बहिरङ्ग। दोनों ही आवश्यक हैं।

(क) निरन्तर चिन्तन करते रहना चाहिये, किसी क्षण भी चित्तमें 'तत्त्वचिन्तन' से इतर विचार न होने चाहिये। (ख) प्रतिग्रह (दूसरेसे लेना), परिग्रह (संचय करना), उपग्रह (बार-बार खाना), परचर्चा (निन्दा-स्तुति करना) —इन चारोंसे बच जाय तो भजनका फल प्राप्त हो।

× × ×

अविवेकीके लिये शास्त्र भारस्वरूप प्रतीत होता है, रागीको ज्ञान भार है, अशान्त लोगोंको मन भार है। अनात्मदर्शीको शरीर भार है। इसी आशयका एक श्लोक है—

भारोऽविवेकिनः शास्त्रं भारो ज्ञानं च रागिणाम्।
अशान्तस्य मनो भारो भारोऽनात्मविदो वपुः॥

शुद्धि छः प्रकारकी होती है—(१) मनकी शुद्धि, (२) वाणीकी शुद्धि, (३) अन्नशुद्धि, (४) हस्त-शुद्धि, (५) कच्छ-शुद्धि और (६) क्रिया-शुद्धि।

मनकी शुद्धि—मनको विषयभोगके पदार्थोंसे पृथक् करके सत्य-चिन्तन करनेसे होती है।

वाणीकी शुद्धि—सत्य, मधुर, सरल भाषण तथा श्रीहरिका गुणगान करनेसे होती है।

अन्न-शुद्धि—साधुके लिये भिक्षान्न पानेसे शुद्धि होती है, किंतु गृहस्थियोंको शुद्ध आजीविका ही अपेक्षित है।

हस्त-शुद्धि—प्रतिग्रह न लेनेसे तथा हाथोंद्वारा शुभ कर्म करनेसे होती है।

कच्छ-शुद्धि—वीर्यकी रक्षा करनेसे, पूर्ण ब्रह्मचर्यमय जीवन बितानेसे होती है।

क्रिया-शुद्धि—शुद्ध, निष्कपट व्यवहार करनेसे होती है। प्रत्येक कार्यमें शुद्धता होनी चाहिये।

× × ×

किसीसे **'देहि'** यूँ कहना—मरणके समान है। मर जाना भला है, किंतु वाणीद्वारा अथवा अन्य किसी चेष्टाद्वारा अपनी आवश्यकताकी सूचना देना अपना पतन करना है। परोपकारके लिये भी माँगना अनुचित है। साधुको भूख लगनेपर मधुकरी माँग लेनी चाहिये। मधुकरी माँगना गृहस्थियोंको कृतार्थ करना है, किंतु **'देहि'** मात्र शब्दके कहते ही शरीरमें स्थायीरूपसे रहनेवाले पाँच देवता चले जाते हैं, वे देव ये हैं—ह्री, श्री, धी, ज्ञान और गौरव। केवल माँगनेके संकल्पमात्रसे चेष्टामें मलिनता आ जाती है। माँगना बड़ा भारी पाप है।

× × ×

प्राचीन कालमें महात्मा लोग सदैव गङ्गाके किनारे-किनारे विचरण किया करते थे। स्थायीरूपसे कहीं भी नहीं रहते थे। दत्तात्रेय जहाँ कहीं भी जाते, बड़ी भीड़ हो जाती, हजारों आदमियोंसे घिर जाते थे। वे कभी-कभी अज्ञात स्थानमें भी चले जाते थे। किसीको छः-छः मासतक पता नहीं चलता था।

शुरूसे मैं जब रामघाटकी ओर आया तो बहुत-से विरक्त महात्मा गङ्गा-किनारे घूमते हुए मिलते थे।

निरन्तर भ्रमण करते रहनेसे किसी देशका प्रभाव नहीं पड़ता। बड़े-बड़े अनुभव होते हैं। विरक्तकी चेष्टा उसकी वास्तविकताको बता देती है। विरक्ति छिपी नहीं रहती।

एक बारकी बात है, मैं व्रजसे आ रहा था। एक दिन सबेरेसे तीन बजे दिनतक चलता ही रहा। तीन बजेके करीब बड़े जोरोंकी भूख लगी। एक गाँवमें गया। उसमें एक जमींदारकी हवेली थी। द्वारपर एक बूढ़ा लेटा था। मैंने 'नारायण हरि' की। इतनेमें एक जमींदारका नौकर आया। वह कहने लगा—'ना बाबा यह साधु नहीं है। यह तो बकरी चरानेवाला गड़रिया है। इसे रोटी मत दो।' बूढ़ेने कहा—'नहीं, यह तो साधु है।' ऐसा कहकर बूढ़ेने घरमेंसे चार रोटी लाकर मुझे दी।

साधुको न तो भिक्षाकी चिन्ता करनी चाहिये और न संकल्प करके किसी खास दरवाजेपर ही जाना चाहिये। स्वाभाविक जहाँ कहीं भी रोटी मिल जाय, ले लेनी चाहिये। तत्त्वदर्शी साधुको चारों वर्णोंके यहाँसे रोटी ले लेनी चाहिये, किंतु अछूत जातिवालोंके यहाँसे नहीं।

अछूते तो वे भी हैं जिनका जीवन व्यभिचारमय बीतता है। भोगरत प्राणी ही अछूते हैं। उनके स्पर्शमात्रसे अपवित्रताका संचार हो जाता है। उनसे बचकर रहना चाहिये।

× × ×

भिक्षान्न सोम-अन्न है, अमृत है। इसके बराबर शुद्ध कोई अन्न नहीं है। साधुको सदैव भिक्षा करनी चाहिये। आजकलके साधु रेलमें यात्रा करते हैं, यह मुझे पसंद नहीं। उन्हें पैदल भ्रमण करना चाहिये। पैदल भ्रमणमें बड़े-बड़े अनुभव होते हैं। स्थायी वैराग्यका पता तो पैदल भ्रमणमें ही लगता है। सुख-दुःखका पूर्ण अनुभव हो जाता है।

× × ×

आत्मनिष्ठा बिना मुक्ति नहीं हो सकती। आवश्यकता है आत्मनिष्ठ होनेकी। जबतक वासनाओंका चित्तमें निवास है, तबतक ज्ञान नहीं उदय हो सकता, वासना ही जन्मका कारण है। ज्यों ही वासना नष्ट होगी, त्यों ही वह जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि, दुःख और दोषसे पृथक् हो जायगा।

आजकल बहुत-से ऐसे हैं, जो ज्ञानके साथ भोग भी चाहते हैं। इन्द्रियोंके साथ खेल भी करना चाहते हैं। खेल तो एकहीके साथ होगा। आत्माके साथ खेल करनेवाला इन्द्रियोंके साथ कैसे खेल कर सकता है? इन्द्रियोंके साथ खेल करनेमें महादुःख है और इससे महान् हानि उठानी पड़ती है, जिसकी कभी पूर्ति नहीं हो सकती। इस हानिसे बचनेके लिये निग्रह करना चाहिये।

ज्ञान होनेका लाभ निवृत्त होना है।



आत्म-बोध

(श्रीसुबोधचन्द्रजी पाण्डेय)

जिसने आत्मस्वरूपको जान लिया है, उस स्वानन्दरसका पान करनेवाले पुरुषके लिये वासनारहित मौनसे बढ़कर उत्तम सुखदायक और कुछ भी नहीं है। यह आत्मा अविनाशी एवं नित्य-सिद्ध है। यह देश, काल और शुद्धि आदि किसीकी भी अपेक्षा नहीं करता। जो महापुरुष अपने स्वरूपमें चित्तको स्थिर करके अखण्ड ऐश्वर्य-सम्पन्न आत्माका साक्षात्कार कर लेता है, वह संसार-गंधसे युक्त बन्धनको स्वयं काट डालता है एवं अपने मनुष्य-जन्मको सफल बना लेता है।

कहा गया है कि 'जो स्वयं अनुभव नहीं किया जा सकता, अपनी सूक्ष्म बुद्धिके द्वारा उस सबके साक्षीको ही तू अपना आत्मा जान'—

सर्वे येनानुभूयन्ते यः स्वयं नानुभूयते।
तमात्मानं वेदितारं विद्धि बुद्ध्या सुसूक्ष्मया॥

(विवेकचूडामणि)

यह आत्मा स्वयं ही अपना साक्षी है, क्योंकि यह स्वयं अपने-आपसे ही अनुभव किया जाता है, इसलिये इससे परे कोई और अपना साक्षात् अन्तरात्मा नहीं है। इस आत्मतत्त्वके अवबोधके लिये कुछ प्रश्न-उत्तर नीचे दिये जा रहे हैं, जिन्हें अपने चित्तरूपी आकाशमें एकाग्र मनसे धारण करनेपर अवश्य ही आत्मबोधका मार्ग प्रशस्त हो सकेगा एवं इस मनुष्य-शरीरका रहस्य भी समझा जा सकेगा—

प्र०—जीवोंका बन्धन क्या है?

उ०—विषयोंमें आसक्त रहना ही जीवोंका प्रबल बन्धन है।

प्र०—मुक्ति किसे कहते हैं?

उ०—विषयोंमें वैराग्य होना ही जीवोंकी मुक्ति है।

प्र०—भीषण नरक क्या है?

उ०—शरीरका अभिमान ही भीषण नरक है।

प्र०—स्वर्गका सोपान क्या है?

उ०—वासनाओंका क्षय करना ही स्वर्गका सोपान है।

प्र०—संसारकी यातनाओंका विनाश कैसे होता है?

उ०—गुरुदेवके मुखसे वेदान्तोंका श्रवण करनेसे जो आत्मबोध उत्पन्न होता है, उसीके द्वारा मनुष्य (जीव) भवसागरसे निःसंकोच पार उतर जाते हैं।

प्र०—नरकोंका द्वार क्या है?

उ०—कामिनी-प्रसक्ति ही नरकोंका द्वार है।

प्र०—स्वाभाविक स्वर्ग क्या है?

उ०—अहिंसा ही स्वाभाविक स्वर्ग है।

प्र०—इस संसारमें सुखपूर्वक निद्रामें कौन हैं?

उ०—समाधिमें लगे हुए योगिजन ही एकमात्र विघ्नोंसे रहित हैं, वे ही सदा सुखपूर्वक निद्रामें मग्न हैं।

प्र०—सदा जागरित कौन है?

उ०—जो सदा सद्‌बोध-युक्त है, वही सदा जागरित है।

प्र०—संसारमें जीवोंका परम शत्रु क्या है?

उ०—जीवोंका परम शत्रु इन्द्रियाँ हैं।

प्र०—संसारमें मित्र कौन है?

उ०—वशमें की हुई इन्द्रियाँ ही परम मित्र हैं।

प्र०—परम दरिद्र कौन है?

उ०—जिसका हृदय कामनाओंसे पूर्ण है, वही परम दरिद्र है।

प्र०—संसारमें महापुरुष कौन है?

उ०—जिसका हृदय संतोषसे पूर्ण है, वही इस घोर संसारमें महापुरुष है।

प्र०—मनुष्योंमें अन्धसे भी महा अन्ध कौन है?

उ०—जो दुराशय कामान्ध है, उसके समान महा अन्ध दूसरा कोई नहीं है।

प्र०—मृत्यु क्या है?

उ०—अपयश ही मृत्यु है।

प्र०—उपयुक्त शिष्य कौन है?

उ०—जिसके हृदयमें कपट नहीं है, निष्कपटभावसे गुरुदेवके चरणकमलोंमें भक्ति रखता है, वही उपयुक्त शिष्य है।

प्र०—संसारमें सर्वोत्कृष्ट बल एवं आभूषण क्या है?

उ०—संसारमें शील ही सबसे बड़ा बल एवं आभूषण है।

प्र०—विश्वमें सच्चा तीर्थ क्या है?

उ०—विशुद्ध मन ही सर्वोत्तम तीर्थ है।

प्र०—संसार-भवनमें आकर सदा क्या श्रवण करना चाहिये?

उ०—निरन्तर भक्ति रखकर गुरुदेवके उपदेशों तथा श्रेष्ठ शास्त्र-वचनोंका श्रवण करना चाहिये?

प्र॰—जीवोंको ब्रह्म-लाभ कैसे होता है ?

उ॰—सर्वदा साधुओंका सङ्ग, इन्द्रिय-दमन, तत्त्व-विचार तथा सदा संतुष्ट रहनेवालेको ब्रह्म-लाभ होता है।

प्र॰—संसारमें जन्म लेनेके उपरान्त एकान्त हृदयमें क्या करना चाहिये ?

उ॰—शिव तथा विष्णुमें कोई अन्तर न समझकर सदा एकान्त अन्तरमें शिवजीका पूजन-वन्दन आदि करना चाहिये।

प्र॰—जीवन-सुखका आभास कैसे होता है ?

उ॰—जो संसारमें आकर निष्पाप जीवन-यापन करता है, उसे ही जीवन-सुखका आभास होता है।

प्र॰—वास्तविक लाभ क्या है ?

उ॰—आत्मतत्त्वसे अवगत होना ही वास्तविक लाभ है।

प्र॰—संसारमें विजयी कौन है ?

उ॰—जो अपने मनको वशमें करता है, वही विश्व-विजयी है।

प्र॰—वास्तविक वीर किसे कहते हैं ?

उ॰—जिसका मन काम-शरसे पीड़ित नहीं है, वही वास्तविक वीर है।

प्र॰—संसारमें महा विष क्या है ?

उ॰—संसार-भवनमें विषय ही महा विष है।

प्र॰—संसारमें धन्य कौन है ?

उ॰—वह साधु मनुष्य धन्य है, जो परोपकारी है, क्योंकि परोपकारीके समान कोई धन्य नहीं है।

प्र॰—भू-मण्डलमें पूजनीय कौन है ?

उ॰—जो पुरुष तत्त्वज्ञ है, वही विश्वमें अति पूजनीय है।

प्र॰—संसारका मूल क्या है ?

उ॰—अविद्या ही संसारका मूल है।

प्र॰—संसारमें पशुके सदृश कौन है ?

उ॰—संसारमें विद्याहीन मनुष्य ही पशु है।

प्र॰—साधु पुरुषको किसके संगका त्याग करना चाहिये ?

उ॰—संसारमें जो विद्याहीन, अति नीच, जिसका हृदय अत्यन्त खलसे परिपूर्ण है, ऐसे सङ्गको त्याग देना चाहिये।

प्र॰—किस कामको करनेसे मनुष्य लघु समझा जाता है ?

उ॰—माँगना ही अति लघु है। माँगनेवालेको संसारमें कोई सम्मान नहीं देता। उसे सभी लोग तृणके समान तुच्छ समझते हैं।

प्र॰—जगत्‌में अद्वितीय, सर्वोत्तम क्या है एवं किन कर्मोंको करनेसे जीवोंको शोक प्राप्त नहीं होता ?

उ॰—संसारमें शिवतत्त्व अद्वितीय है। सुशीलता सर्वोत्तम है। शिव एवं विष्णुमें जो भेद न रखता हो तथा अभेद-मनसे उनका पूजन-अर्चन करता है, वह शोकको कभी प्राप्त नहीं होता।

प्र॰—संसारमें सर्वश्रेष्ठ दान क्या है ?

उ॰—जीवोंको अभय प्रदान करना श्रेष्ठ दान है।

प्र॰—मनका आत्यन्तिक नाश क्या है ?

उ॰—मनका आत्यन्तिक नाश मोक्ष है।

प्र॰—किस स्थानको प्राप्त होनेपर भय नहीं रहता ?

उ॰—स्वरूप-मुक्ति-लाभ करनेपर जीवको किसी प्रकारका भय नहीं रहता।

प्र॰—मृत्युके समय क्या करना चाहिये ?

उ॰—मृत्युके समय एकान्त हृदयमें मुरारीके पाद-पद्मका चिन्तन करना चाहिये।

प्र॰—किस वस्तुसे जीवके अवगत होनेपर उसका कुछ भी जानना बाकी नहीं रहता ?

उ॰—जो ब्रह्म, नित्य-निरञ्जन, शुद्ध-सनातनको जानता है, वह साधु पुरुष सर्वज्ञ है। उन्हें जाननेमें कुछ भी शेष नहीं रहता।

प्र॰—संसारमें दुर्लभ क्या है ?

उ॰—संसारमें सद्‌गुरुका मिलना अति दुर्लभ है।

प्र॰—संसारमें दुर्जय क्या है ?

उ॰—संसारमें मनोभव अति दुर्जय है।

प्र॰—पशुसे भी पशु कौन है ?

उ॰—जो धर्म-पथपर नहीं चलता, जो वेदादिका अध्ययन नहीं करता, तत्त्व-बोध जिसके अंदर नहीं है, वही पशुसे भी पशु है।

प्र॰—विद्युत्‌के सामन चञ्चल कौन है।

उ॰—धन, आशा और जीवन—ये तीन परम चञ्चल हैं।

प्र॰—निरन्तर चिन्तनीय वस्तु क्या है ?

उ॰—भगवन्नाम ही निरन्तर चिन्तनीय तथा ध्येय है। इसीसे सर्वविध सुख-शान्ति एवं परम कल्याण प्राप्त होता है।

भागवतीय प्रवचन—४०

संतोंके दर्शनके लिये सद्भाव आवश्यक है

(श्रीकृष्णपादलीन संत श्रीरामचन्द्र डोंगरेजी महाराज)

देवहूतिने भगवान् कपिलदेवजीसे कहा—'आप सत्संग करनेकी आज्ञा देते हैं, किंतु मुझे तो इस संसारमें कहीं भी कोई संत दिखायी नहीं पड़ता।'

कपिलभगवान्ने कहा—'माता! तब मानो कि तुम्हीं श्रद्धारहित हो। अश्रद्धा होनेपर तो संतका मिलन होनेपर भी सद्भावना नहीं होती। संतको ढूँढ़ने तुम कहाँ जाओगी। तुम ही संत बनोगी तो तुम्हें संत मिलेंगे।'

एकनाथ, तुकाराम, नरसिंह आदि गृहस्थाश्रमी थे। वे घरमें रहकर ही संत बने थे। संतोंके लक्षण जीवनमें उतारोगे तो संत बन सकोगे।

बिना सत्संगके सुख नहीं मिलता। स्वयं संत बने बिना सच्चा संत नहीं मिलेगा। जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि। क्रोधके कारण हनुमान्जीको श्वेत फूल भी लाल दिखायी दिये थे।

एकनाथ महाराज रामायणके सुन्दरकाण्डकी कथा कह रहे थे।

इस सुन्दरकाण्डमें सभी कुछ सुन्दर है। यह सुन्दरकाण्ड नाम इसलिये रखा गया है कि इसमें हनुमान्जीको माता सीताजीकी पराभक्तिके दर्शन हुए हैं।

ब्रह्मचर्य और रामनाम हो तो इस संसारसागरको पार किया जा सकता है। हनुमान्जी-जैसे ही इस दुर्गम संसारसागरको पार कर सकते हैं। सागर पार करके हनुमान्जी अशोकवनमें आये। एकनाथ महाराज कथामें कहते हैं कि जब हनुमान्जी अशोकवनमें आये, तब वहाँ वाटिकामें सफेद फूल खिल रहे थे। जहाँ सीताजी वहाँ अशोकवन। जहाँ भक्ति वहाँ अशोक (शोकका अभाव)।

हनुमान्जी वहाँ कथा सुननेके लिये आये थे। उन्होंने प्रकट होकर विरोध करते हुए कहा कि 'महाराज! आप गलत कह रहे हैं। अशोकवनमें उस समय लाल फूल खिले हुए थे, सफेद नहीं। मैंने अपनी आँखोंसे प्रत्यक्ष देखा था।' एकनाथ महाराजने कहा कि 'मैं तो अपने सीतारामको मानकर कथा कह रहा हूँ और मुझे जैसा दिखायी दे रहा है, वैसा ही कह रहा हूँ।' अन्तमें इस झगड़ेको लेकर वे दोनों श्रीरामके पास गये। रामचन्द्रजीने कहा कि 'आप दोनोंकी बात सही है। क्रोधावेशसे आँखें लाल होनेके कारण हनुमान्जीने फूल लाल देखे थे, अन्यथा फूल तो सफेद ही थे।'

जिसकी दृष्टि जैसी होगी उसे वैसी ही सृष्टि दिखायी देगी। दुर्योधनको जगत्में कोई संत न मिला, उसने सभीको दुर्जन ही पाया। युधिष्ठिरको कोई दुर्जन नहीं मिला, उसने सभीको सज्जन ही पाया।

संतोंके धर्म (लक्षण) में तितिक्षाको प्राधान्य दिया गया है। सहन करोगे तो सुखी होओगे। संतोंका चरित्र पढ़ो। संतोंको कई दुःख सहने पड़े हैं। किंतु उन दुःखोंका संतोंपर कुछ असर नहीं होता। जो अतिशय सहन करे वही संत है।

एकनाथ महाराज पैठणमें रहते थे। गोदावरी नदीकी ओर जानेवाले मार्गपर एक पठान रहता था। एकनाथजी महाराज उसी रास्तेसे स्नान करनेके लिये जाते थे। वह पठान महाराजको बहुत सताता था। किंतु महाराज सभी कुछ सहते रहते थे।

एक दिन उस पठानने सोचा कि यह ब्राह्मण क्रोधित नहीं होता है। आज मैं इसे क्रोधित करके ही रहूँगा। महाराज स्नान करके वापस आ रहे थे, तो उस पठानने महाराजपर थूका। महाराज दूसरी बार स्नान करने गये। फिर उस पठानने महाराजपर थूका। कई बार ऐसा होता रहा, किंतु महाराज क्रोधित न हुए। गोदावरीसे वे कहने लगे कि तेरी कृपा है कि 'तू मुझे स्नान करनेके लिये बार-बार बुला रही है। वह पठान अपने दुर्जन स्वभावका परित्याग नहीं करता तो मैं अपनी सज्जनताका परित्याग कैसे कर सकता हूँ।' पठानने एक सौ आठ बार महाराजपर थूका और उतनी ही बार महाराजने गोदावरी-स्नान किया। अन्तमें वह पठान अत्यन्त लज्जित हुआ। उसने महाराजके पाँव छुए और क्षमा माँगी, कहा—'महाराज! आप संत हैं, ईश्वर हैं। मैं आपको पहचान न सका।' महाराजने उत्तर दिया कि 'क्षमाका कोई प्रश्न ही नहीं है। तुम्हारे कारण तो आज मुझे एक सौ आठ बार गोदावरी-स्नानका पुण्य मिला।'

शान्ति उसीकी बनी रहती है जो अंदरसे ईश्वरके साथ सम्बद्ध रहे। जो ईश्वरसे दूर है उसे शान्ति कहाँसे मिलेगी।

कपिलजी कहते हैं—'माता ! जो बहुत सहन करता है, वही संत बन सकता है। अतिशय विपत्तिको भी जो ईश्वरका अनुग्रह समझे, वही महान् वैष्णव है।'

दुष्ट लोग किसीका भी अच्छा नहीं देख सकते। दुष्टोंने तुकारामको गधेपर बैठाया तो तुकारामकी पत्नीको दुःख हुआ। किंतु तुकाराम उससे बोले कि 'मेरे विट्ठलनाथजीने मेरे लिये जो गरुड़ भेजा है उसीपर तो मैं बैठा हूँ।' सभीने गधा देखा, किंतु तुकारामकी पत्नीने गरुड़ देखा।

जगत्में सब कुछ सहते रहो।

जगत्में अन्धकारका अस्तित्व है अतः प्रकाशका मूल्य है।

संतोंका पहला लक्षण तितिक्षा है, तो दूसरा है करुणा। तीसरा लक्षण है सभी देहधारियोंके प्रति सुहृद्भाव। अजातशत्रुता, शान्त, सरल स्वभाव आदि भी संतोंके लक्षण हैं। शान्तिकी परीक्षा प्रतिकूलतामें होती है। अर्थ-धन-सम्पत्तिसे तो प्रतिदिन सम्बन्ध रखते हो, किंतु उसके साथ-साथ परमात्मासे भी सम्बन्ध रखोगे तो सम्पत्ति भी मिलेगी और शान्ति भी। भागवतकार कहते हैं कि ईश्वरके लिये कुछ-न-कुछ त्यागो।

संत पुरुष प्रभुके हितार्थ सर्वस्वका त्याग करते हैं—**'मत्कृते त्यक्तकर्माणस्त्यक्तस्वजनबान्धवाः।'** संत मेरे अर्थात् परमात्माके लिये सम्पूर्ण कर्म तथा अपने सगे-सम्बन्धियोंका त्याग करते हैं। संत परमात्माके लिये संसारके विषयोंका बुद्धिपूर्वक त्याग करते हैं और भगवत्परायण रहकर भगवान्की पवित्र कथाओंका श्रवण, कीर्तन करते हैं तथा उनमें ही चित्त लगाये रहते हैं—उन भक्तोंको संसारके तरह-तरहके ताप कोई कष्ट नहीं पहुँचाते हैं। ऐसे सर्वसङ्गपरित्यागी महापुरुष ही साधु होते हैं, उनका सङ्ग करना चाहिये, क्योंकि वे आसक्तिसे उत्पन्न सभी दोषोंको हर लेनेवाले हैं।

भगवान् परीक्षा करके ही अपनाते हैं।

भूखे मारुँ, भूखे सुवाडुं,
तननी पाडुं छाल, पछी करीश न्याल।

'मैं भूखसे व्याकुल करूँगा, भूखा ही सुलाऊँगा, तनको गला दूँगा और तब उसे मालामाल करूँगा।'

भगवान्ने नरसिंह मेहताकी कई बार परीक्षा की थी।

भगवत्परायण रहकर भगवान्की कथाओंका श्रवण-कीर्तन करे, संतोंका संग करे, भगवान्में ही चित्त रमाता रहे तो भक्तिका विकास होता है। भगवान्की कथा सुननेसे श्रद्धा दृढ़ होती है। उसके बाद भगवान्के लिये आसक्ति बढ़ती है। आसक्ति बढ़नेसे व्यसनात्मिका भक्ति प्राप्त होती है और जिसकी भक्ति व्यसनात्मिका बने उसकी मुक्ति सुलभ होती है। भक्ति जब व्यसन-सी उत्कट बनती है तब ईश्वरके पास ले जाती है।

हे माता ! तीव्र भक्तिके बिना मुक्ति नहीं मिल सकती। तीव्र भक्तिका अर्थ है व्यसनात्मिका भक्ति।

तुकारामने भक्तकी बड़ी अच्छी व्याख्या दी है। एक क्षण भी जो भगवान्से विभक्त न हो पाये वह भक्त है, व्यवहारका कामकाज निभाते हुए भी जो भगवान्से विभक्त न हो पाये वही भक्त है। और तीव्र भक्तिका अर्थ है एक भी क्षण ईश्वरसे विभक्त न होना। इस सुदृढ़ भक्तिसे मनुष्य अपनी इसी देहमें, अपनी अन्तरात्माके समान भगवान्को प्राप्त कर लेता है।

परमात्माका वाचक प्रणव है, उसका जप और उसके अर्थकी भावना करनी चाहिये। इससे आत्माकी प्राप्ति और विघ्नोंका अभाव होता है।
—देवर्षि नारद

जिन्होंने काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर—इन छः शत्रुओंको जीत लिया है, वह पुरुष ईश्वरकी ऐसी भक्ति करते हैं जिसके द्वारा भगवान्में परम प्रेम उत्पन्न हो जाता है।
—महाभारत

भगवान्की मायाके दोष-गुण बिना हरिभजनके नहीं जाते, अतएव सब कामनाओंको छोड़कर श्रीरामको भजो।
—तुलसीदासजी

विश्वहितके लिये हमारी सनातन प्रार्थना

ॐ सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमि ँ् सर्वतः स्पृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥
(पु० सू० १)

परम पुरुष परमात्माका अनुपम स्वरूप दर्शन पावन।
ध्यान धरें ऋषि-मुनिजन धन्य बनें, पावें नित नवजीवन॥
सहस्र-शीर्ष पुरुषके मस्तक अनन्त, अमित हजार।
अनन्त नेत्र, चरण हैं उनके अगणित अपरम्पार॥
अखिल विश्वमें व्याप्त धराधिपति हैं विश्वविधाता।
दस अङ्गुल अनन्त योजन ऊपर तटस्थ उद्गाता॥
परम परात्पर परमेश्वरका चिन्तन-मनन करें हम।
ध्यान धरें मन-ही-मनमें गुण-गौरव-गान करें हम॥

पुरुष एवेद ँ् सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥
(पु० सू०२)

परम पुरुष है व्याप्त सकल जगमें उसका है राज।
शासक है वह अखिल विश्वका उसका ही साम्राज्य॥
वर्तमान है वही स्वयं, है बीता हुआ जमाना।
आगे आनेवाले युगका मालिक वही समाना॥
योग-क्षेम निभानेवाला ईश्वर वही अधीश्वर।
अन्न-वस्त्रका दाता है स्वयमेव स्वयं जगदीश्वर॥
जीवन, जगत्, जमानेका शासक भी है परमेश्वर।
अमृततत्त्व-स्वरूप मोक्षपद वरदाता वरदेश्वर॥

एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायाँश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥
(पु० सू० ३)

परम पुरुष है वैभवशाली त्रिकाल दर्शनमान।
भूत, भविष्य अरु वर्तमानसे सम्बन्धित सम्मान॥
महान् है उनका ही सारा विभूतिमय विस्तार।
चार चरणके चतुष्पादमें चतुर्थांश विस्तार॥
केवल एक चरणमें सारा पञ्चभूतात्मक विश्व।
परम पुरुषके एक पादमें शामिल सारा विश्व॥
मानवका अधिकार इसीमें मर्यादाकी रेखा।
परम पुरुषके त्रिपादका कर देखें लेखा-जोखा॥
त्रिपाद-वैभवमें है शाश्वत दिव्यलोक संधान।
वैकुण्ठ, गो-लोकादि अनेकों शिवलोकादि विधान॥
कर लेना अनुमान इसीमें भक्तोंकी है शान।
भक्तोंके हैं भक्त स्वयं सद्भाग्यवान् भगवान्॥

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं
यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
त ँ् ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं
मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥
(श्वेताश्व० ६। १८)

सबसे पहले रचा जिन्होंने ब्रह्माको प्रगटाया।
उनके चार मुखोंसे चारों वेदोंको कहलाया॥
आत्मभावसे स्वयं प्रकाशी परम देवता श्रेष्ठ।
शरणागत हूँ मैं मुमुक्षु आराध्य वही हैं इष्ट॥

नमस्ते सते ते जगत्कारणाय
नमस्ते चिते सर्वलोकाश्रयाय।
नमोऽद्वैततत्त्वाय मुक्तिप्रदाय
नमो ब्रह्मणे व्यापिने शाश्वताय॥

नमस्कार सत्स्वरूप जगके कारण-रूप महान्।
परमात्मा चित्स्वरूप सर्वाश्रयात्म-सत्त्वसमान॥
नमस्कार अद्वैत तत्त्व हे मुक्ति-प्रदाता देव।
शाश्वत सर्वव्यापी ब्रह्म स्वरूपरूपिता देव॥

(अनु०—श्रीमदालसा नारायण)

[प्रेषक—श्रीजयदयालजी डालमिया]



जो पुत्र बूढ़े माता-पिताकी, पति अपनी साध्वी स्त्रीकी, पिता अपने छोटे बच्चोंकी, शिष्य गुरुकी, समर्थ मनुष्य ब्राह्मणोंकी और शरणागतकी रक्षा नहीं करता, वह जीता हुआ ही मुर्देके समान है। —भगवान् श्रीकृष्ण



गीता-तत्त्व-चिन्तन

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

गीतामें सत्, चित् और आनन्द

द्वावेव सच्चिदानन्दौ प्रोक्तौ जगज्जनार्दनौ।
द्वयोरन्तरमेतत्तु सदाऽस्थिरं सदा स्थिरः॥

गीतामें सत्, चित् और आनन्द—इन तीनोंका वर्णन आता है। परंतु वेदान्त-ग्रन्थोंमें इन तीनोंका जैसा क्रमसे वर्णन आता है, वैसा क्रमसे वर्णन गीतामें नहीं आता; क्योंकि गीता एक सिद्धान्त-ग्रन्थ है, प्रक्रिया-ग्रन्थ नहीं है।

'सत्' शब्द सत्ताका वाचक, 'चित्' शब्द ज्ञानका वाचक और 'आनन्द' शब्द सर्वोपरि सुखका वाचक है।

'सत्'—

सत्ता दो प्रकारकी होती है—स्वतःसिद्ध अविकारी सत्ता और उत्पन्न होनेवाली विकारी सत्ता। अविकारी सत्ता परमात्मा एवं जीवात्माकी है और विकारी सत्ता संसार एवं शरीरकी है। अविकारी सत्ताका कभी अभाव नहीं होता—**'नाभावो विद्यते सतः'** (२।१६) और विकारी सत्ताका कभी भाव नहीं होता—**'नासतो विद्यते भावः'** (२।१६)।

उत्पन्न होना, 'है'-रूपसे दीखना, बढ़ना, परिवर्तित होना, क्षीण होना और नष्ट होना—ये छः विकार अविकारी सत्तामें नहीं होते अर्थात् वह सत्ता इन छः भाव-विकारोंसे रहित है। ये छः भाव-विकार विकारी सत्तामें होते हैं; जैसे—संसार एवं शरीर उत्पन्न होता है, उत्पन्न होनेके बाद 'है'-रूपसे दीखता है, बढ़ता है, परिवर्तित होता है अर्थात् एक अवस्थाको छोड़कर दूसरी अवस्थाको प्राप्त होता है, क्षीण होता है और नष्ट हो जाता है।

गीतामें उपर्युक्त दोनों सत्ताओंका वर्णन एक साथ ही हुआ है; जैसे—गतिशील प्राणियोंमें जो गतिरहित है, विषम प्राणियोंमें जो समरूपसे स्थित है और नष्ट होनेवाले प्राणियोंमें जो विनाशरहित है (१३।२७)। सम्पूर्ण विभक्त प्राणियोंमें जो विभागरहित है (१३।१६)। जिसके अन्तर्गत सम्पूर्ण प्राणी हैं और जो सम्पूर्ण प्राणियोंमें ओतप्रोत है (८।२२) आदि।

'चित्'—

ज्ञान दो प्रकारका होता है—करण-निरपेक्ष और करण-सापेक्ष। परमात्मा और अपने स्वरूपका ज्ञान (बोध) करण-निरपेक्ष है; क्योंकि वह ज्ञान स्वयंसे ही होता है, इन्द्रियाँ, मन आदि करणोंसे नहीं। संसार और शरीरका ज्ञान करण-सापेक्ष है; क्योंकि यह ज्ञान इन्द्रियाँ, मन आदि करणोंसे होता है। करण-निरपेक्ष ज्ञान सबका प्रकाशक है। इसी ज्ञानसे सबको प्रकाश मिलता है। इसीसे मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ आदि सब प्रकाशित होते हैं। परंतु करण-सापेक्ष ज्ञान प्रकाश्य है।

गीतामें उपर्युक्त दोनों ज्ञानोंका वर्णन भी प्रायः एक साथ ही हुआ है; जैसे—वह परमात्मा सम्पूर्ण ज्योतियोंका ज्योति है अर्थात् सम्पूर्ण ज्ञानोंका ज्ञान है (१३।१७)। वह परमात्मा सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे रहित होनेपर भी सम्पूर्ण विषयोंको प्रकाशित करता है (१३।१४)। उस परमपदरूप परमात्माको सूर्य (नेत्र), चन्द्रमा (मन) और अग्नि (वाणी) प्रकाशित नहीं करते (१५।६); किंतु उससे ये सूर्य (नेत्र) आदि प्रकाशित होते हैं (१५।१२), आदि।

'आनन्द'—

सुख भी दो प्रकारका होता है—पारमार्थिक और लौकिक। पारमार्थिक सुख परमात्मस्वरूप है। यह सुख तीनों गुणोंसे अतीत है। यह सुख सांसारिक सुख-दुःखसे रहित है। इसी सुखको गीतामें अक्षय सुख, आत्यन्तिक सुख और अत्यन्त सुख कहा है (५।२१; ६।२१, २८)। परंतु लौकिक सुख नाशवान् और तीनों गुणोंवाला है। राजस और तामस सुख तो लौकिक हैं ही, उत्पन्न होनेवाला होनेसे सात्त्विक सुख भी लौकिक ही है। गीतामें लौकिक सुखका वर्णन प्रायः दुःखके साथ ही हुआ है; जैसे—**'शीतोष्णसुखदुःखदाः'**, **'समदुःखसुखम्'** (२।१४-१५); **'सुखेषु विगतस्पृहः'** (२।५६); **'शीतोष्णसुखदुःखेषु'** (६।७); **'समदुःखसुखः'**, **'शीतोष्णसुखदुःखेषु'** (१२।१३, १८); **'समदुःखसुखः'** (१४।२४); **'सुखदुःखसंज्ञैः'** (१५।५); आदि।

तात्पर्य है कि परमात्मतत्त्व भी सच्चिदानन्द (सत्, चित् और आनन्द) है और संसार भी सच्चिदानन्द है; परंतु इन दोनोंके सच्चिदानन्दपनेमें अन्तर है। परमात्मतत्त्वका सच्चिदानन्दपना सबके लिये अनुभूत नहीं है। मनुष्य जब

साधन करता है, सत्संग करता है, परमात्माकी तरफ चलता है, तब परमात्माका सच्चिदानन्दपना उसके अनुभवमें आने लगता है। पारमार्थिक मार्गमें वह ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता है, त्यों-त्यों उसमें विलक्षणता आती ही रहती है। परंतु संसारका जो सच्चिदानन्दपना है, वह सबके अनुभवसिद्ध है। संसारकी जो सत्ता ('है'-पना) है, ज्ञान (समझ) है, सुख है, वे सभी उत्पन्न और नष्ट होनेवाले हैं। वे पहले भी नहीं थे और पीछे भी नहीं रहेंगे तथा जिस समय उनका भान होता है, उस समय भी वे प्रतिक्षण नष्ट हो रहे हैं, अभावमें जा रहे हैं। अतः बुद्धिमान् मनुष्यको चाहिये कि वह उत्पन्न और नष्ट होनेवाले सांसारिक सत्-चित्-आनन्दमें न फँसे।

परमात्माको 'सत्' कहनेका तात्पर्य है कि वह परमात्मा असत्से विलक्षण है; वहाँ असत् है ही नहीं। जैसे उत्पन्न होनेवाली वस्तुको अङ्गुलिनिर्देश करके बता सकते हैं; ऐसे उस परमात्माको अङ्गुलिनिर्देश करके नहीं बता सकते।

उस परमात्माको 'चित्' कहा जाता है, पर यह 'चित्' सांसारिक प्रकाश-अप्रकाश, ज्ञान-अज्ञान, चेतन-जड़की तरह नहीं है। कारण कि सांसारिक प्रकाश अप्रकाशकी अपेक्षासे है अर्थात् जहाँ नेत्र काम करते हैं, वह प्रकाश है और जहाँ नेत्र काम नहीं करते, वह अप्रकाश है। सांसारिक ज्ञान अज्ञानकी अपेक्षासे है अर्थात् जहाँ बुद्धि काम करती है, वह ज्ञान है और जहाँ बुद्धि काम नहीं करती, वह अज्ञान है। सांसारिक चेतन जडकी अपेक्षासे है। परंतु परमात्मा इस तरह अप्रकाश, अज्ञान और जड़की अपेक्षा 'चित्' नहीं है; वहाँ अप्रकाश, अज्ञान और जड़ताका अत्यन्त अभाव है। तात्पर्य है कि उस परमात्मामें अप्रकाश, अज्ञान और जड़ता है ही नहीं।

संसारमें एक सुख होता है और एक दुःख होता है। एक शान्ति होती है और एक अशान्ति होती है। ये सभी द्वन्द्व हैं। पारमार्थिक सुख-(आनन्द-)में दुःख-अशान्तिका अत्यन्त अभाव है। वह सुख सांसारिक सुख-शान्तिसे सर्वथा अतीत है। तात्पर्य है कि पारमार्थिक सत्, चित् और आनन्द—ये तीनों ही द्वन्द्वातीत हैं। ('गीतादर्पण'से)

श्रीतुलसीदासजीका शकुन-विचार

(गोस्वामी श्रीरामबालकजी साहित्यरत्न, शिक्षाविशारद, साहित्यालंकार)

[गताङ्क पृ०-सं० ७९६ से आगे]

श्रीतुलसीदासजीने अपने साहित्यमें केवल शुभ शकुनोंके विषयमें ही नहीं, प्रत्युत अपशकुन-सूचक विशेषताओंका भी उल्लेख किया है, जिनमें उल्कापात, दिग्दाह, श्वान और शृगालका रोना-चिल्लाना, केतुका उदय होना, पृथ्वीका काँपना, महिलाका दाहिना नेत्र और अङ्गोंका फड़कना, कुस्वप्न देखना, गदहेका रेंकना, पूज्य प्रतिमाओंका रोना, वज्रपात, अतिवात (तूफान), भूकम्प, वलाहकोंका रक्त, कच (बाल) और रज (धूल) आदि अशुभ पदार्थ बरसाना मुख्य है।

रामचरितमानसके 'लंकाकाण्ड'में रावणकी मृत्युके समय जिन अपशकुनोंका वर्णन हुआ है, वे इस प्रकार हैं—

असुभ होन लागे तब नाना। रोवहिं खर सृकाल बहु स्वाना॥
बोलहिं खग जग आरति हेतू। प्रगट भए नभ जहँ तहँ केतू॥
दस दिसि दाह होन अति लागा। भयउ परब बिनु रबि उपरागा॥
मंदोदरि उर कंपति भारी। प्रतिमा स्रवहिं नयन मग बारी॥

(रा० च० मा० ६। १०२। ७—१०)

इस प्रकार किसी शुभ कार्यके प्रारम्भमें जब गदहा, शृगाल और कुत्ते आदि बोलने लगें तो अशुभ होता है। पक्षिगण भयाक्रान्त होकर चीखने लगें तो अपशकुन समझना चाहिये। पुच्छलतारोंका प्रकट होना किसी भारी संकटका द्योतक होता है। रह-रहकर आँखें भर आती हों तो चिन्ताका विषय मानना चाहिये। आँखोंसे अनायास अश्रु-स्राव किसी-न-किसी सम्बन्धीके विनाशका सूचक होता है। ये सब ज्योतिषशास्त्रके विहित अपशकुन हैं।

प्रतिमा रुदहिं पबिपात नभ अति बात बह डोलति मही।
बरषहिं बलाहक रुधिर कच रज असुभ अति सक को कही॥
उतपात अमित बिलोकि नभ सुर बिकल बोलहिं जय जए।
सुर सभय जानि कृपाल रघुपति चाप सर जोरत भए॥

(रा० च० मा० ६। १०२)

इसके अतिरिक्त कृषि-सम्बन्धी बहुतसे शकुन-विचार भी श्रीतुलसीदासजीने किये हैं। किस नक्षत्रमें बीज बोना

लाभदायक होता है और किस नक्षत्रमें पेड़-पौधा लगाना शुभाशुभ होता है, इसके विषयमें भी तुलसी-साहित्यमें अनेक दोहे-पद हैं।

रुपये-पैसे, सोने-चाँदी आदि धनको धरतीमें छिपाकर गुप्त करने योग्य शुभाशुभ नक्षत्रकालोंका भी तुलसीदासजीने अपने साहित्यमें वर्णन किया है।

श्रुति गुन कर गुन पु जुग मृग हय रेवती सखाउ।
देहि लेहि धन धरनि धरु गएहुँ न जाइहि काउ॥

(दोहावली ४५६)

श्रीतुलसीदासजी बताते हैं कि श्रुतिगुन (श्रवण नक्षत्रसे क्रमशः तीन नक्षत्र—१-श्रवण, २-धनिष्ठा और ३-शतभिषा), करगुन (हस्त नक्षत्रसे क्रमशः तीन नक्षत्र—१-हस्त, २-चित्रा और ३-स्वाति), पुजुग (पुष्य और पुनर्वसु), मृग (मृगशिरा), हय (अश्विनी), रेवती और सखाउ (अनुराधा) नक्षत्रोंमें जो धन-सम्पत्ति पृथ्वीमें गुप्तरूपसे गाड़कर रखी जाती है, तो वह सम्पदा कदापि नष्ट नहीं होती, सदा सुरक्षित रहती है।

संत कवि श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीके साहित्यमें गोपनीय मन्त्रोंके भी वर्णन हैं। उन महत्त्वपूर्ण मन्त्रोंसे दुःख-संकट, रोग-व्याधि और विषम वायु-विकारोंमें लाभ होता है। नजर तथा जादू-टोनाकी पीड़ामें भी तुलसीदासजीके गुप्त मन्त्रोंसे आशातीत लाभ होते हैं।

तुलसीरचित 'गीतावली'के बालकाण्डमें एक ऐसा ही प्रसंग आया है। एक दिन बालक श्रीराम खेल-खेलमें देखते-देखते रोने लगे। उनका वह रुदन रुकता ही नहीं था। सभी माताएँ प्रयत्न करके हार गयीं, पर श्रीराम चुप न हुए, उनका रुदन न रुका। उनको चुप करानेके लिये तरह-तरहके खिलौने दिये गये। बहुत सारे गीत भी सुनाये गये। चिन्तातुर घरके बूढ़े-बुजुर्गोंने देव-पितर, कुग्रह आदिकी पूजा-प्रार्थना करके श्रीरामको चुप कराना चाहा, घृतका तुलादान भी हुआ, पर श्रीरामका रोना जारी रहा, वे चुप न हुए। तब कुलगुरु वसिष्ठजीको बुलाया गया। उन्होंने अपने अमृतमय हाथोंसे श्रीरामके मस्तकका स्पर्श किया। इसके साथ-साथ उन्होंने कुशसे 'नृसिंह-मन्त्र' पढ़कर मन-ही-मन मार्जन भी किया, जिसका अद्भुत प्रभाव हुआ, वह 'नृसिंह-मन्त्र'[1] सभी तरहके भयोंको दूर करनेवाला है।

ज्योतिषशास्त्रका कोई भी अङ्ग-उपाङ्ग हो, गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीके मतानुसार 'रामजीका दाहिने होना' माङ्गलिक कार्यके लिये आवश्यक है। यथा—

लगन मुहूरत जोग बल तुलसी गनत न काहि।
राम भए जेहि दाहिने सबै दाहिने ताहि॥

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीके ग्रन्थोंके अध्ययन-मननसे स्पष्ट होता है कि वे ज्योतिष-विद्याके कितने महान् विद्वान् थे। ज्योतिषशास्त्रके समान तुलसीदासजीकी भी यह धारणा है कि सज्जन-संगम भी मङ्गलदायक होता हैं। यथा—

गङ्गा पापं शशी तापं दैन्यं कल्पतरुस्तथा।
पापं तापं तथा दैन्यं सर्वसज्जनसंगमः॥

—यह श्लोक ज्योतिषशास्त्रमें प्रसिद्ध है। तुलसीदासजी भी उनको '····***जंगम तीरथ राजू'*** कहते हैं।

गोस्वामी तुलसीदासजीके काव्योंमें 'रामशलाका-प्रश्नावली' प्रश्न एवं शकुनोंका सूचक है। 'रामाज्ञाप्रश्न' भी प्रश्न-ज्योतिषका ग्रन्थ है, जिसमें चक्रोंके द्वारा या कमलगट्टोंको गिनकर सप्तक और दोहोंकी संख्या ज्ञात होनेपर मनोवाञ्छित प्रश्नोंका उत्तर प्राप्त होता है।

गोस्वामी तुलसीदासजी स्वप्न-ज्योतिषके भी विद्वान् थे। वे कहते हैं कि स्वप्नावस्थामें बंदर-दर्शन, अग्निदाह, नग्न होना, गदहेपर सवार होना, सिर मुँड़वाना, अपनी भुजाओंका कटना, दक्षिणकी यात्रा आदि दिखे तो यह भारी अपशकुन है, जो महाविनाशका सूचक होता है।

लंकापति रावणके विनाशका सूचक स्वप्न त्रिजटाने भी देखा था। त्रिजटाने वह स्वप्न अशोकवाटिकामें सभी राक्षसियोंके समक्ष सीताजीको सुनाया था—

सपनें बानर लंका जारी। जातुधान सेना सब मारी॥
खर आरूढ़ नगन दससीसा। मुंडित सिर खंडित भुज बीसा॥
एहि बिधि सो दच्छिन दिसि जाई। लंका मनहुँ बिभीषन पाई॥
नगर फिरी रघुबीर दोहाई। तब प्रभु सीता बोलि पठाई॥

१-उग्रं वीरं महाविष्णुं ज्वलन्तं सर्वतोमुखम्। नृसिंहं भीषणं भद्रं मृत्युमृत्युं नमाम्यहम्॥

यह सपना मैं कहउँ पुकारी। होइहि सत्य गएँ दिन चारी॥

× × ×

सबन्हौ बोलि सुनाएसि सपना। सीतहि सेइ करहु हित अपना॥

(रा० च० मा० ५। ११। ३—७)

गोस्वामी तुलसीदासजीका ज्योतिष बताता है कि स्त्रियोंके लिये जहाँ बायें अङ्गका फरकना शुभ शकुन है, वहीं पुरुषोंके लिये यह अशुभ होता है। पुरुषोंके लिये तो दाहिने अङ्गका फरकना ही शुभ शकुन है।

जासु सकल मंगलमय कीती। तासु पयान सगुन यह नीती॥
प्रभु पयान जाना बैदेहीं। फरकि बाम अँग जनु कहि देहीं॥

(रा० च० मा० ५। ३५। ५-६)

जबसे दशरथजीका निधन हुआ था तबसे अपने मातामहके यहाँ भरतजीको तरह-तरहके अपशकुन होने लगे थे।

अनरथु अवध अरंभेउ जब तें। कुसगुन होहिं भरत कहुँ तब तें॥
देखहिं राति भयानक सपना। जागि करहिं कटु कोटि कलपना॥

(रा० च० मा० २। १५७।५-६)

भरतजी रातमें बुरे-बुरे स्वप्न देखते थे। जब वे जागते थे तो उनके मनमें अनायास तरह-तरहके कुविचार और बुरी-बुरी सम्भावनाएँ उठती थीं।

दुःस्वप्नके अपशकुनकी शान्तिके लिये तुलसीदासजीने बताया है कि ब्राह्मण-भोजन कराना चाहिये। दान भी करना चाहिये। इसके साथ-साथ महादेवजीको स्मरण करके रुद्राभिषेक करना चाहिये।

इसलिये भरतजीने भी अपने दुःस्वप्न और कुविचारोंकी परिशान्तिके लिये यह सब किया—

बिप्र जेवाँइ देहिं दिन दाना। सिव अभिषेक करहिं बिधि नाना॥
मागहिं हदयँ महेस मनाई। कुसल मातु पितु परिजन भाई॥

(रा० च० मा० २। १५७। ७-८)

इस प्रकार सभी प्रकारके अपशकुन एवं अमङ्गल-जालको सदाके लिये समाप्त कर परम कल्याण एवं मङ्गलराशिकी प्राप्तिके लिये भगवान्‌की मङ्गलमय स्मृति ही परम उपाय है। भारतीय परम्परामें यह अनादिकालसे प्रसिद्ध है कि—

अशुभानि निराचष्टे तनोति शुभसंततिम्।
स्मृतिमात्रेण यत्पुंसां ब्रह्म तन्मङ्गलं विदुः॥
अतिकल्याणरूपत्वान्नित्यकल्याणसंश्रयात्।
स्मर्तॄणां वरदत्वाच्च ब्रह्म तन्मङ्गलं विदुः॥

—इसीका छायानुवाद करते हुए गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने—

जिन्ह कर नामु लेत जग माहीं। सकल अमंगल मूल नसाहीं॥
करतल होहिं पदारथ चारी। तेइ सिय रामु कहेउ कामारी॥

× × ×

मंगल भवन अमंगल हारी। द्रवउ सो दसरथ अजिर बिहारी॥

—आदि पदोंमें बार-बार पूर्वोक्त भावोंका ही संकेत किया है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यही है कि वे मङ्गलमय भगवान् ही स्मरणीय हैं, जिनके स्मरणमात्रसे महा अमङ्गलस्वरूप आपातकाल-स्मरणीय यह सारा विश्वप्रपञ्च समाप्त हो जाता है और भगवान् भक्तके सामने दृग्गोचर हो जाते हैं तथा साधक सर्वथा कृतकृत्य हो जाता है।

श्रीराम-जन्मोत्सव

आजु दसरथ कें आँगन भीर।
ये भू-भार उतारन कारन, प्रगटे स्याम-सरीर॥
फूले फिरत अजोध्या-बासी, गनत न त्यागत चीर।
परिरंभन हँसि देत परसपर, आनँद नैननि नीर॥
त्रिदस-नृपति, रिषि ब्यौम-बिमाननि देखत रह्यो न धीर।
त्रिभुवन-नाथ दयालु दरस दै, हरी सबनि की पीर॥
देत दान राख्यौ न भूप कछु, महा बड़े नग हीर।
भए निहाल 'सूर' सब जाचक, जे जाँचे रघुबीर॥

आर्यसाहित्यमें गौका गौरव

(देवर्षि भट्ट पं० श्रीमथुरानाथजी शास्त्री)

प्राचीन आर्योंके साहित्यमें गौका महत्त्व असाधारण है। उसके शरीरमें यावन्मात्र देवताओंका निवास है, गो-पुच्छद्वारा मार्जन करनेसे बालकोंके सब अरिष्ट दूर होते हैं। उसके दूध-दही-घृतादिके बिना न हमारे देवकार्य ही सम्पन्न होते हैं और न पितृकार्य ही।और तो क्या श्रुति और स्मृतियोंके अनुसार उसके गोबर और गो-मूत्रका भी इतना उपयोग है कि उसके बिना हमारी क्या आन्तरिक और क्या बाह्य—किसी भी प्रकारकी शुद्धि नहीं हो सकती। केवल धर्मकी ही बात हो सो नहीं, आयुर्वेदमें भी गो-मूत्रसे 'संजीवनी'-सदृश ओषधियाँतक बनती हैं। वेदोंसे लेकर अर्वाचीन ग्रन्थोंतकमें आर्योंने गौकी असाधारण महिमा गायी है। गौके अनन्त उपकारोंसे आप्यायित हुआ भावुक हर्षगद्गद होकर धर्मशास्त्रोंमें प्रार्थना करता है—

गावो मे पुरतः सन्तु गावो मे सन्तु पृष्ठतः।
गावो मे परितः सन्तु गवां मध्ये वसाम्यहम्॥

'गायें मेरे आगे हों, गायें मेरे पीछे हों, गायें मेरे चारों ओर हों, गायोंके बीचमें ही मैं सदा निवास करूँ।'

पुराणोंमें पद-पदपर गौकी अनन्त महिमा गायी गयी है। उसे देखते हुए प्रत्येक अन्वेषणशीलको निश्चय हो जायगा कि न केवल भारतवासी आर्योंके यहाँ ही अपितु प्राच्य जगन्मात्रमें पहले गौका बड़ा सन्मान था। जैसे हमलोग गो-पूजा करते हैं, उसी प्रकार पारसीलोग साँड़की पूजा किया करते थे। मिस्रमें सुनहले बछड़ेकी पूजा हुआ करती थी। वहाँके प्राचीन सिक्कोंपर बैलोंकी मूर्ति अङ्कित रहती थी। ईसासे कई हजार वर्ष पूर्वके बने हुए पिरामिडोंमें बैलोंकी मूर्तियाँ अङ्कित हैं। आज भी केल्टिक जातिके लोग जहाँ कहीं हैं, गो-पूजक हैं।

धन-गणनामें गो-धनपर ही पहले दृष्टि जाती थी। राजपूतानेमें गौका मालिक आज भी 'धणी' (धनी) कहलाता है। धनकी ही क्या बात, एक गौकी कीमत समूचे राज्यसे भी अधिक मानी जाती थी—यह अन्वेषणोंसे प्रमाणित होता है। महाभारतमें आख्यान है कि एक बार च्यवन ऋषि गङ्गा-गर्भमें बैठकर तपस्या कर रहे थे। मछली पकड़नेवालोंके जालमें मुनिजी भी आ गये। वे मछलियोंके साथ बिकते हुए 'नहुष'-के दरबारमें पहुँचे। राजा मुनिजीके बदले एक थैली सोना देने लगे—किंतु मुनिने कहा—'यह मछुएके साथ अन्याय होता है। मेरा मूल्य इतना-सा नहीं।' राजाने और भी बहुत-सा सोना लगा दिया, और तो क्या, अन्तमें अपना समूचा राज्यतक देना चाहा। परंतु तो भी मुनिजीने कहा—'हमारा मूल्य इतना कम नहीं होगा।' अन्तमें राजाने विनय की कि 'महाराज ! आप ही बताइये, आपका मूल्य क्या होगा ?' मुनिने कहा—'आप इसे एक गौ दे दीजिये, बस, यही बदला ठीक हो जायगा।' कहिये, गौकी महिमामें कुछ कमी रही ?

धर्मपुस्तकोंकी दृष्टिसे गौका गौरव केवल हम ही गा रहे हों सो नहीं, गवेषणा (रिसर्च) करनेवालोंने स्वयं गवेषणा की है कि बेचारी इस 'गवेषणा' का आरम्भ ही गौसे होता है। पहले यह गौ ही प्रधान धन समझी जाती थी। इस गौकी रक्षाके लिये ही पहले-पहल 'गोत्र' (गोशाला) की सृष्टि हुई। जैसा कि ऋग्वेदमें आता है—**'त्वं गोत्रमङ्गिरोभ्योऽवृणोः'** (१।५१।३) 'हे इन्द्र! तुमने अङ्गिरा ऋषिके वंशजोंके लिये 'गोत्र' खोल दिया' ऐसे ही **'गवां गोत्रमुदसृजः।'** (ऋ० २।२३।१८) 'तुमने गो-समूहके लिये 'गोत्र' खोल दिया था' इत्यादि। इन 'गोत्रों' (गोशालाओं) के रक्षक वसिष्ठ-अत्रि-कश्यप-भरद्वाज आदि आर्योंके दलपति थे। एक-एक दलका एक-एक 'गोत्र' था। गोत्रपतिके नामसे ही 'गोत्र' का नाम चलता था। इसीलिये धीरे-धीरे वसिष्ठ-भरद्वाज-कश्यप आदि गोत्रोंकी सृष्टि हुई, जो अब आर्योंके वंश-परिचयका प्रधान निशान है।

इस गौकी एषणा (प्राप्त करनेकी इच्छा, अथवा खोज) प्राचीन आर्योंको प्रधानतया होती थी। इस 'गवेषणा'से प्रेरित हुए आर्य बहुधा इन्द्रादि देवोंकी प्रार्थना करते थे। इस अर्थके लिये ऋग्वेदमें 'गवेषणा' शब्दका प्रयोग स्थान-स्थानपर मिलता है। जैसे—**'स घा विदे अन्विन्द्रो गवेषणो बन्धुक्षिद्भ्यो गवेषणः'** (ऋ० १।१३२।३) अर्थात् इन्द्र अपने बन्धुओं (उपासकों) के लिये गौओंका अन्वेषण करता है। कई बार गो-अन्वेषणके लिये रथपर बैठकर जाना जरूरी हो जाता था। इसीलिये रथको **'गवेषणः'** कहा जाता था।

जैसे—'**युजे रथं गवेषणं हरिभ्याम्**' (ऋ० ७।२३।३) 'गौओंको खोजनेवाले रथमें घोड़ोंको जोतता हूँ।' इन्द्रको स्पष्ट अक्षरोंमें गो-अन्वेषणकर्ता बतलाया है। जैसे—'**गवेषणः स धृष्णुः,** (७।२०।५) 'शत्रु-धर्षणकर्ता इन्द्र गौओंका अन्वेषण करते हैं।' यहाँ सायणने अपने भाष्यमें स्पष्ट अर्थ किया है—'**गवेषणः गवाम् अन्वेष्टा।**' इस गो-एषणामें कई बार युद्ध करनेका भी प्रसङ्ग आ जाता था, जिसके लिये नगारे आगे लेकर लड़ाईके मैदानमें उतरना पड़ता था। इसीलिये अथर्ववेदमें नगारेको '**गवेषणः**' कहा है (४।२०।११)।

प्राचीन साहित्यमें यह 'गो-एषणा' शब्द ही कुछ नया नहीं। इसके अनुकरणपर 'पुत्रैषणा' (पुत्रकी इच्छा), 'दारैषणा' (स्त्रीकी इच्छा), 'वित्तैषणा' (धनकी इच्छा) आदि अनेक शब्दोंकी सृष्टि हुई है। गायोंके प्रति धन ही क्या, अपने सर्वस्वकी भावना जबतक रही, तबतक यह 'गवेषणा' आर्योंके लिये नित्य-नैमित्तिक व्यापार था। 'गवेषणा' शब्दके इस मौलिक अर्थसे वर्तमान समयका यह गवेषणा (तत्त्व-निरूपण) अर्थ कैसे बन गया, यह खोज निकालना बहुत कठिन नहीं। प्राचीन कालमें गौ ही प्रधान धन था। इसलिये 'गो-अन्वेषण' का अर्थ हुआ—'धन-अन्वेषण' अथवा 'तत्त्वका अन्वेषण।' धीरे-धीरे गौके प्रति यह धनकी भावना मन्द होती गयी। धनका अर्थ अधिकाधिक व्यापक बनता गया। और भी आवश्यक वस्तुएँ धन समझी जाने लगीं। जो मूल्यवान् है वही धन है, इसलिये धीरे-धीरे 'गो-अन्वेषण'-का सामान्यतः 'मूल्यवान्का अन्वेषण' यह अर्थ बनता गया। जैसे-जैसे यह मानव 'जड' से 'अजड' (चेतन आत्मादि) के सम्मुख होता गया, वैसे-वैसे 'तत्त्वज्ञान' को मूल्यवान् मानता गया। अतएव गवेषणाका जो अर्थ पहले था—गोरूपी धनका अन्वेषण वह धीरे-धीरे 'तत्त्व-अन्वेषण' पर आ ठहरा। उस ही समय व्याकरणमें 'गवेष'धातुकी सृष्टि हो गयी।

गौ आदि पशुओंको धन मानना केवल हमारे ही यहाँ न था, सभी प्राचीन जातियाँ वैसा मानती थीं। अंग्रेजीका (Pecumiary) शब्द इसमें प्रमाण है। (Pecumiary) शब्द लैटिनके (Pecus) से बना है, जिसका अर्थ है पशु। इसलिये इसका वास्तविक अर्थ है पशु-सम्बन्धी, किंतु अब अर्थ हो रहा है 'अर्थसम्बन्धी।'

प्राचीन आर्योंकी सर्वस्व, भारतकी गो-माता आज किस दशामें है, इसे अधिक लिखकर समझानेकी आवश्यकता नहीं। प्रसङ्गागत 'साहित्यवैभव' का एक संस्कृत 'कवित्त' उद्धृत कर इस लेखको समाप्त किया जा रहा है—

मुञ्चन्ते स्वशत्रुमपि दन्तेष्वावहन्तं तृण-
मेवं प्रागुदन्तेषु हि रीतिरतिख्यातासौ
सैषा पुनः प्राश्य तृणं बाढमृणं धत्ते जने
येन निजवत्सैरपि सूतकृषिखातासौ।
मञ्जुनाथ नित्यं निजस्तन्यदुग्धदानादहो
अन्यमतमानिनामपीह मान्यमातासौ
त्राता मान्यमोगलमहीपैरुपयातार्चनं
गोमाताप्यखण्डखड्गधारामनुयातासौ ॥

दाँतोंमें तिनका ले लेनेपर अपने वैरीतकको छोड़ देते हैं, यह रीति (मर्यादा) प्राचीन इतिहासोंमें सुप्रसिद्ध है। यह गौ तृण खाकर जनतापर यह बड़ा भारी 'ऋण' (कर्ज) धरे हुए है कि दूध, दही आदि पैदा करनेके सिवा यह अपने बच्चोंसे खेती भी कराती है—'**सूतं (जनितं) कृषेः खननं यया**'। यदि स्तनका दुग्ध पिलानेसे माता मानी जाती हो तो न केवल हिंदू ही, अपितु और-और मत (इस्लाम, ख्रीष्ट आदि) माननेवालोंकी भी यह आदरणीय माता है। (आर्य हिन्दुओंकी क्या कथा), इतिहासप्रशंसित मुगल बादशाहोंने भी इसकी रक्षा की थी। (बादशाह अकबरने अपने राज्यमें गो-वध बिलकुल बंद करवा दिया था।) (इन सब विशेषताओंसे) देवताकी तरह पूजी जा रही यह गौ माता भी 'अखण्ड' (प्रार्थना करनेपर भी 'अनिवारित' अथवा अधिकताके कारण निरन्तर) खड्गधाराके नीचे आयी हुई है (इससे बढ़कर और अमङ्गल तथा अन्याय क्या होगा)। कुछ भी विवेक रखनेवाले इसपर विचार करें।

जीवोंसे द्रोह करके जो अपने शरीरको पालता है, वह अपने उस शरीरको और पापकर्मोंसे सञ्चित धनको यहीं छोड़कर अकेला पापरूपी राहखर्चको साथ लेकर घोर अन्धकारमय नरकमें प्रवेश करता है। —श्रीमद्भागवत

भक्त-गाथा—

भक्तवर विट्ठलदासजी

दक्षिणके एक श्रेष्ठ ब्राह्मण-कुलमें दो सगे भाई राजपुरोहित थे। घरमें धन-सम्पत्तिकी कमी नहीं थी। ब्राह्मण-कुलमें होनेसे विद्या भी यथेष्ट थी। परंतु संसारमें धनसे जितनी बुराई होती है, उतनी शायद दूसरी किसी भी वस्तुसे नहीं होती। विद्वान् होनेपर भी धनके कारण दोनों भाइयोंमें परस्पर मन-मुटाव रहने लगा। फलस्वरूप दोनोंने सम्पत्तिका बँटवारा कर अलग-अलग रहनेका विचार किया। लोभ-वश दोनों ही एक दूसरेसे कुछ-न-कुछ अधिक हड़पनेकी इच्छासे लड़ने लगे। यहाँतक नौबत आ गयी कि दोनों परस्पर सर्वस्व नाश करनेको तैयार हो गये। बन्धु-बान्धवोंने समझा-बुझाकर झगड़ा मिटाना चाहा, परंतु दैव-वश दोनोंकी बुद्धिने किसीकी बातपर ध्यान नहीं दिया। परिणाम यह हुआ कि दोनों ही एक दूसरेके प्राणघातक बन इस लोकसे विदा हो गये। इस दुर्घटनाको सुनकर राजाको भी बड़ा दुःख हुआ। पर कोई उपाय न देख ब्राह्मणके घरवालोंको समझा-बुझाकर अन्तमें राजाको भी चुप बैठना पड़ा। अब इस ब्राह्मण-परिवारमें दो विधवा स्त्रियों और छोटे भाईके एक बच्चे विट्ठलदासको छोड़कर और कोई नहीं रह गया।

बालक विट्ठलदास आदर्श सद्गुणी और होनहार लड़का था। वह जब कुछ समझने लगा, तब एक दिन उसने अपनी मातासे पिताका हाल पूछा। इसपर उसकी माताने उसके पिता और ताऊके कलह और परस्पर लड़ मरनेका सारा वृत्तान्त उसे सुना दिया। बालकके मनपर धनके कारण होनेवाली इस दुर्घटनाका विलक्षण प्रभाव पड़ा और वह चिन्तामग्न हो गया। सब अनर्थोंकी जड़ धनको जानकर उसने मन-ही-मन धनके त्यागका संकल्प किया और दृढ़ताके साथ प्रपञ्चकी आशा छोड़कर पुरोहित-वृत्तिका त्याग कर दिया। उसी समयसे विट्ठलदासका मन सांसारिक बातोंसे विरक्त रहने लगा और उसका अधिकांश समय भजन, ध्यान और भगवन्नाम-कीर्तनमें बीतने लगा। उसी दिनसे उसने अपने-आपको सर्वतोभावेन भगवच्चरणोंमें अर्पण कर दिया। अपने इकलौते पुत्रकी यह स्थिति देख माताको यह चिन्ता होने लगी कि कहीं यह घर छोड़कर चला न जाय और इसी आशंकासे उसने उसका विवाह कर दिया और यों उसे सांसारिक बन्धनमें बाँधकर गृहस्थीमें जकड़कर रखना चाहा। परंतु जिसने एक बार उस अमियरसका पान कर लिया, उसको अपने लक्ष्यसे कौन डिगा सकता है? दिनों-दिन उसका ईश्वर-प्रेम बढ़ने लगा और अब तो उसका एक क्षण भी बिना भगवत्स्मरणके नहीं बीतता था। साधु-संतोंकी सेवा करना, ब्राह्मणों और भूखोंको भोजन-अन्न देना आदि उसके नित्य-कर्म थे। भगवान्‌की पूजा करनेके अनन्तर हाथोंमें करताल और वीणा लेकर 'गोविन्द गोपाल श्रीपति! अच्युतानन्त वामनमूर्ति! भक्तवत्सल विश्वपति! राधा-मन-मानस-रञ्जन! गोकुल-निवासी जनार्दन! गोपवेश! गोवर्धन-धारण! नन्दनन्दन श्रीहरि!' आदि नामोंका प्रेमपूर्वक उच्च स्वरसे कीर्तन करते-करते विट्ठलदास प्रेम-विह्वलताके कारण बेसुध हो जाते और लगातार तीन-तीन घंटोंतक वैसे ही पड़े रहते। उनकी इस प्रेम-भक्तिकी विलक्षण दशा देखकर संत और भक्तजनोंको तो बड़ा आनन्द होता। अवश्य ही इस रहस्यको न जाननेवाले दुष्ट-प्रकृतिके कुछ संसारी मनुष्य उनकी यह स्थिति देखकर उनपर संदेह करते और उन्हें दाम्भिक बतलाया करते।

एक दिन राजाको अपने पुरोहित-पुत्र विट्ठलदासका स्मरण हुआ। उसने मन्त्रीसे उसका वृत्तान्त पूछा। मन्त्रीने विट्ठलदासके पिताकी मृत्यु-घटनाके प्रभावसे उसकी बदली हुई स्थिति और भगवन्निष्ठाका सारा हाल कह सुनाया। इसे सुनकर राजाको बड़ी प्रसन्नता हुई और उसने अपनी कुछ सम्पत्तिको पवित्र करनेकी इच्छासे विट्ठलदासको धन-धान्य देनेका विचारकर उन्हें बुलानेके लिये कुछ कर्मचारियोंको भेजा। उन्होंने भक्तवर विट्ठलदासजीके समीप जाकर उन्हें राजाकी प्रार्थना सुनायी और बड़े सम्मानपूर्वक साथ चलनेके लिये कहा। परंतु प्रतिष्ठाको 'शूकरी-विष्ठा-सदृश' और रमा-विलासको 'वमन-सदृश' समझनेवाले भक्तने राज-कर्मचारियोंको नम्रतापूर्वक समझा-बुझाकर लौटा दिया। विट्ठलदासकी इस निःस्पृहता और विरतिको देखकर उनपर राजाकी श्रद्धा और भी बढ़ गयी और उसने किसी प्रकार भी उन्हें अपने घरमें बुलाकर उनके पवित्र पद-रज और दर्शनसे

अपने घर और कुटुम्बको पवित्र करना चाहा। इसलिये अबकी बार राजाने कुछ खास-खास लोगोंको किसी प्रकार विनती कर उन्हें लिवा लानेके लिये फिर उनके पास भेजा। अबकी विट्ठलदासजी अस्वीकार नहीं कर सके और ईश्वर-प्रेरणा समझकर उन शिष्ट पुरुषोंके साथ श्रीभगवन्नाम-कीर्तन करते हुए राजासे मिलनेके लिये दरबारमें गये। भक्तवर विट्ठलदासजीको आया देखकर राजाको बड़ा ही आनन्द हुआ और उसने सिंहासनसे उठकर अत्यन्त भक्ति और सम्मानपूर्वक उनका अभिवादन कर बैठनेके लिये आसन दिया। विट्ठलदासजीके शान्त, सौम्य, तेजपूर्ण मुख-मण्डलको देखकर राजा मन्त्रमुग्ध-सा हो गया और अपनेको धन्य मानने लगा। उसने उनसे भगवद्गुणानुवाद और भजन सुनानेकी प्रार्थना की। भक्तोंको अपने भगवान्की गुण-चर्चामें जितना अधिक आनन्द होता है उतना और किसी बातमें नहीं होता। राजाकी बात सुनकर विट्ठलदासजीको बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने आनन्द-पुलकित हो इसे स्वीकार कर लिया। हरि-कीर्तनकी तैयारी होने लगी। वीणा, करताल, मृदङ्ग आदि कीर्तनका सामान मँगवाया गया। देखते-ही-देखते सारी तैयारियाँ हो गयीं। समाजमें अच्छे-बुरे सभी प्रकारके मनुष्य थे। उनमेंसे कितने ही भक्त और संतोंके अकारण द्रोही भी थे। उन्हें भगवन्नाम आदिमें श्रद्धा नहीं थी और वे भ्रमवश विट्ठलदासजीसे भी द्वेष रखा करते थे। उनकी तन्मयताकी परीक्षा करनेके लिये मन्द-बुद्धि, कलुषित-हृदय दुष्टोंने आजके दिनको अच्छा मौका समझकर राजासे कहा कि आजका कीर्तन खुली छतपर होनेसे बड़ा आनन्द आयेगा। सरल-प्रकृति राजाने दुष्टोंके कुभावको न समझकर वैसा करनेकी अनुमति दे दी। दुष्टोंने षड्यन्त्र रचकर भक्तवर विट्ठलदासजीका आसन ऐसी जगह लगाया कि जहाँसे कीर्तन करते हुए विट्ठलदास यदि तन्मयताके कारण मूर्च्छित होकर गिरें तो सीधे छतके नीचे ही आकर ठहरें।

विट्ठलदासजी आसनपर आ विराजे। सारा समाज यथायोग्य स्थानपर बैठ गया। कीर्तन आरम्भ हुआ। सबने बड़े प्रेमसे योग दिया। प्रेमरसमें निमग्न हो सभी प्रेमी श्रोतागण कीर्तनमें अपूर्व आनन्दका अनुभव करने लगे। प्रेमियोंके मुखकी हरि-ध्वनि और करताल, वीणा, मृदङ्गादिकी तालबद्ध मधुर ध्वनिसे दसों दिशाएँ गूँज उठीं। बीच-बीचमें हरि-गुणगान भी होता था। विट्ठलदासजी प्रेममदमें छक गये और मतवाले होकर नाचने लगे। हृदयके प्रेम और उत्साह तथा पैरोंमें बँधे हुए घुँघुरुओंने तल्लीनता बढ़ानेमें और भी सहायता की। *'पतितपावन जगदोद्धारा। आदि सर्वेशा वैकुण्ठ विहारा। भक्तवत्सल इन्दिरावर।'* आदि नाम-रत्नोंकी माला गूँथते हुए वे मुक्तकण्ठसे कीर्तन करने लगे और अन्तमें प्रेमावेशमें पागल हो मूर्च्छित होकर गिरे तो एकदम छतसे नीचे आ ठहरे। कुछ दुष्ट प्रकृतिके लोगोंके सिवा सभी श्रोतागण कीर्तन-रसके पानसे मुग्ध हो रहे थे। भक्तवर विट्ठलदासजीके मूर्च्छित होकर नीचे गिरनेकी सम्भावना किसीके भी ख्यालमें पहले न आयी थी, परंतु अब उन्हें नीचे गिरते देख सब घबरा गये और इस घटनासे सभीके हृदयमें बड़ी भारी चोट पहुँची। दुष्टोंकी मनचाही हो गयी। अब तो वे अपनी सफलताके आनन्द और अभिमानमें फूले नहीं समाये। राजाने नीचे आकर देखा, भक्तके हृदयकी धड़कन और श्वासकी गति बंद हो गयी है। राजा यह दशा देखकर एकदम व्याकुल हो गये। उनके दुःखका पार नहीं रहा। किसी तरह धीरज धरकर राजाने उस मृत शरीरको उठवाया और उनकी माताके पास उनके घर ले गये। अपने जीवनाधार एकमात्र पुत्रकी यह स्थिति देखकर माताके दुःखका पार नहीं रहा। राजाने अनेक प्रकारसे उन्हें धीरज दिया और बहुत-सा धन देकर किसी प्रकार यत्किञ्चित् संतोष करा अपने घर लौट आये।

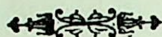
यद्यपि माताको इस जीवनमें अपने पुत्रसे मिलनेकी अब कोई भी आशा नहीं रही थी तथापि घोर निराशामें तनिक-सी भी आशा मनुष्यके हृदयमें अकथनीय उत्साह और जीवन देनेवाली होती है। अतएव उसको भी यह बात याद आयी कि विट्ठलदास कीर्तनके समय सदा ही मूर्च्छित हुआ करता है, आज भी मूर्च्छा शायद विशेष गहरी हो और उसके प्राण न निकले हों, इसलिंये उसने शवका दाह-कर्म न करवा उसे एक चद्दरसे ढाँककर सुरक्षित रख दिया और उसके निस्तेज मुखको बारंबार देखकर प्राण-संचारकी प्रतीक्षा करने लगी। इसी तरह तीन दिन बीत गये। शवमें किसी प्रकारकी चेतनता नहीं आयी। भगवान्की अपार महिमा है। उनकी कृपासे सभी कुछ सम्भव है। चौथे दिन विट्ठलदासजी अपनी उस प्रेम-मूर्च्छा या

काल-मूर्च्छासे सबको आनन्दित करते हुए जाग उठे और अपनेको राजमहलके बदले अपने घरमें देखकर बड़े आश्चर्यान्वित हुए तथा मातासे इसका कारण पूछने लगे। माताने छतसे गिरनेकी घटनासे लेकर राजाके द्रव्यदानतककी सारी रामकहानी संक्षेपमें कह सुनायी। छतसे गिरनेपर भी शरीर-रक्षा हुई जानकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ और भगवत्कृपाका बारंबार स्मरणकर वे आनन्दसे गद्गद हो गये। परंतु माताका लोभवश राजद्रव्य स्वीकार करना उन्हें बहुत ही बुरा लगा और भविष्यमें इससे एवं ऐसी आश्चर्यजनक घटनासे प्रसिद्धि फैलनेके कारण बड़ी भारी हानि होनेकी आशंकासे उन्होंने मन-ही-मन रात्रिमें चुपचाप घर छोड़कर कहीं अन्यत्र चले जानेका निश्चय कर लिया।

आधी रातका समय है। चारों तरफ निस्तब्धता छायी है। दिनभरके परिश्रमसे थके-हारे संसारी लोग प्रकृतिकी आनन्दमयी गोदमें विश्राम पाकर जीवनी-शक्ति प्राप्त कर रहे हैं। ऐसे समय विट्ठलदासजी चुपचाप उठे और घरका द्वार खोल निर्भयताके साथ तेज चालसे मथुराकी ओर चल पड़े। उनके जानेका हाल किसीको मालूम नहीं हुआ। सबेरे माता और पत्नीने पुत्र और स्वामीको घरमें न पाकर विलाप करना शुरू कर दिया। राजाके पास शीघ्र ही इसकी खबर पहुँची, समाचार पाते ही उन्हें खोजनेके लिये राजाने इधर-उधर दूत दौड़ाये, परंतु सब व्यर्थ हुआ। माता अपने प्यारे पुत्रको फिर खो बैठनेके दुःखमें प्राण त्यागनेकी प्रतिज्ञाकर अनशनव्रत करने लगी। दयामय भगवान्से अपने भक्तकी माताका पुत्र-वियोग-जनित दुःख न देखा गया। विट्ठलदासकी माताको स्वप्नमें यह ज्ञात हो गया कि विट्ठलदास मथुरामें हैं। सबेरा होते ही माता भी पुत्र-वधूको साथ ले मथुराकी ओर चल दी और वहाँ अपने नयनोंके तारे प्यारे पुत्रको देख प्रसन्नताके मारे फूली न समायी। माताके आग्रहसे विट्ठलदासजीने उनको अपने पास रख लिया और सकुटुम्ब अपना सारा समय भगवद्भजनमें बिताते हुए व्रजभूमिका आनन्द लूटने लगे।

विट्ठलदासकी पत्नी भी परमभावुका और पतिव्रता थी। वह प्रत्येक काम पतिकी इच्छानुसार किया करती एवं अपना सारा समय सत्संग, भजन, कीर्तन, भगवद्दर्शन एवं सास और पतिकी सेवामें बिताया करती। एक दिन चूल्हा पोतनेके लिये वह मिट्टी लाने गयी, तो मिट्टी खोदते समय उसे भूमिमें शङ्ख, चक्र, गदा, पद्मधारी चतुर्भुज भगवान्की मूर्ति मिली और इस मूर्तिके पास ही बहुत-सा धन देखा। धनको सब अनर्थोंकी जड़ समझनेवाले भक्तकी पतिव्रता स्त्रीके मनमें उस धनका जरा-सा भी लोभ नहीं आया और उसे देखते ही वह पतिके पास दौड़ी आयी और सारा वृत्तान्त कह सुनायी। हाल सुनकर विट्ठलदासजीने कहा कि 'इस स्थानके स्वामीको इसकी सूचना दे दो, जिससे वह अपना धन ले जाय।' आज्ञानुसार मालिकके पास खबर भेजी गयी, वह आया और धन देखकर उसने हाथ जोड़कर कहा कि 'महाराज! यह धन तो आपका ही है, आप इसे ग्रहण कीजिये। मेरा होता तो पहले मुझे मिलता, पर जब यह आपको मिला है तो आप ही इसके मालिक हैं।' इसपर विट्ठलदासजी बोले कि 'भाई! जिसकी जमीनमें जो चीज मिलती है, उसपर उस जमीनके मालिकका ही हक होता है। हमारा तो इस स्थानमें रहनेभरका अधिकार है, बाकी इसके और इसके अंदरसे मिलनेवाली वस्तुके मालिक तुम्हीं हो।' उसने इसे स्वीकार नहीं किया और इसी तरह बात बढ़ते-बढ़ते यहाँतक बढ़ गयी कि आखिर यह मामला ग्रामके पंचोंके सामने गया। उन दिनों न तो आजकलकी तरह मुकदमेबाजीका ही युग था, न आपसमें मुकदमा लड़ानेका पेशा करनेवाले वकील-मुख्तार ही थे, न बालकी खालको खींचकर कानूनका अर्थ करनेवाले जज, मजिस्ट्रेट थे और न गवाहोंको डरा-धमकाकर या वाग्जालमें फँसाकर उनसे उलटी-सीधी कहलानेवाले पब्लिक-प्रासिक्यूटर या वकील-वैरिस्टर थे। जो कुछ भी आपसका मतभेद होता, उसका निपटारा करानेके लिये केवल मतभेदवाले व्यक्ति ग्रामके पंचोंके सामने जाकर सच्चा-सच्चा हाल बयान कर दिया करते और दोनोंकी सुनकर पंच जो कुछ फैसला कर देते वही दोनोंको शिरोधार्य होता। अब न तो वैसी ईमानदार प्रजा है और न वैसे धर्म एवं न्यायशील राजा हैं। अब तो हम लोगोंकी संस्कृतिमें ही कुछ ऐसा परिवर्तन हो गया है कि हम बिना ही कारण लोभवश एक दूसरेके स्वत्वपर अपना हक जमाना चाहते हैं और इसीलिये उपर्युक्त घटनाको प्रायः कल्पनामात्र समझ लेते हैं। अस्तु! मामलेको सुनकर पंचोंने फैसला कर दिया कि यह धन भगवान्की मूर्तिके साथ मिला

है, इसलिये इस धनसे इसी स्थानपर एक भगवदुपासनाके लिये मन्दिर बनवाकर उसमें वही मूर्ति स्थापित की जाय। इस निर्णयको दोनोंने बड़ी प्रसन्नतासे मान लिया और उसी स्थानपर उस धनसे एक बड़ा सुन्दर मन्दिर निर्माण करवाकर उसमें उसी मूर्तिकी स्थापना करवा दी गयी और भगवदुपासकोंके लिये—वहाँ रहकर उपासना करनेवालोंके लिये यथोचित प्रबन्ध कर दिया गया। भक्त विट्ठलदास सपरिवार भगवान्का भजन-स्मरण करते हुए अन्तमें उन्हें प्राप्त कर सदाके लिये परम सुखी हो गये।



क्या यही भारतीय संस्कृति है ?

(डॉ॰ श्रीगौरीशंकरजी गुप्त)

भारतीय संस्कृतिकी अपनी विशिष्ट गौरवपूर्ण परम्परा रही है, जिससे समस्त विश्व प्रभावित होता आया है, किंतु आजकी स्थिति इसके बिलकुल विपरीत है। आजकी युवा-पीढ़ी पाश्चात्त्य संस्कृतिसे अत्यधिक प्रभावित है। खान-पान, रहन-सहन, आचार-विचार सब कुछ बदल चुका है, भक्ष्याभक्ष्यका हमें कुछ भी विचार नहीं रह गया है। सबसे भयंकर है नशीली वस्तुओंका सेवन। भारतकी युवा-पीढ़ीपर सबसे घातक प्रहार इस पाश्चात्त्य संस्कृतिका है, जिससे असंख्य परिवार नष्ट हो गये और यह क्रम निरन्तर चल रहा है। पाश्चात्त्य संस्कृतिके इस विनाशकारी प्रभाव या परिणामसे बचना और दूसरोंको बचाना हमारा परम कर्तव्य एवं युगधर्म है।

युवा-पीढ़ीको पाश्चात्त्य संस्कृतिसे कितना खतरा है, इसका उसे तो क्या, हम अभिभावकोंको भी अहसास नहीं है। हम समय रहते चेत जायँ तो अच्छा है। सरकारको भी चाहिये कि दूरदर्शन तथा आकाशवाणी-सरीखे सशक्त प्रचार-माध्यमोंके जरिये युवा-पीढ़ीका निरन्तर मार्गदर्शन करे जिससे विदेशी संस्कृतिके विनाशकारी प्रभावसे देश बच सके। पत्र-पत्रिकाएँ भी इस दिशामें बहुत-कुछ कर सकती हैं और उन्हें वही करना चाहिये, जिससे न केवल युवा-पीढ़ीका, बल्कि समूचे राष्ट्र और विश्वका हित हो। हमें अपने खान-पान, रहन-सहन—सबपर पूर्ण नियन्त्रण रखना होगा। हिप्पीकट बाल और चुस्त पोशाक भारतीय संस्कृतिके बिलकुल विपरीत हैं तथा स्वास्थ्यपर भी इन सबका पूरा प्रभाव पड़ता है। सात्त्विक खान-पान, ढीली पोशाक भारतीय संस्कृतिके अनुरूप हैं। मांस और अंडों आदि तामसी चीजोंका उपयोग भारतीय परम्पराके सर्वथा विपरीत है। इन पदार्थोंकी बिक्री वर्तमानमें सरे बाजार साग-तरकारी और फलोंकी तरह हो रही है। इनसे निर्मित होनेवाले पदार्थोंकी दुर्गन्धिसे रास्ता चलना भी कठिन हो गया है। सिगरेट और अप्राकृतिक दुष्कर्मोंके परिणामस्वरूप कैंसर और एड्स-सरीखे भयंकर रोगोंसे ग्रस्त होकर लोग अकालमें ही कालकवलित हो रहे हैं। तामसी आहार तथा अनाचारका प्रभाव शरीरपर पड़ता है, मनपर पड़ता है और उचितानुचितका विवेक नष्ट हो जाता है। इस तरहकी शिष्टता अब हमारी परम्परा बन रही है। हमें किसीकी भी बुराई ग्रहण नहीं करनी चाहिये, बल्कि जहाँतक बने, अच्छाई ही ग्रहण करनी चाहिये। असत्प्रवृत्तियोंका अन्धानुकरण बहुत घातक होता है और बादमें पश्चात्ताप ही शेष रहता है।

युवाओंकी बुद्धि अपरिपक्व होती है और बिना सही प्रशिक्षण प्राप्त किये येनकेन प्रकारेण डिग्री हासिल कर लेनेमात्रसे योग्यता नहीं आ जाती। यही कारण है कि वे सहज ही गलत मार्गकी ओर उन्मुख हो जाते हैं। अतः अभिभावकोंका कर्तव्य है कि वे बहुत बारीकीसे उनकी गतिविधिका अध्ययन करें और ऐसा कुछ न होने दें, जिससे बादमें रोना और पछताना पड़े। अच्छाईकी अपेक्षा बुराईके प्रति झुकाव जल्दी होता है और बुद्धिकी अपरिपक्वताके कारण ऐसा होना स्वाभाविक भी है, किंतु इसका यह मतलब नहीं कि हम अपने युवकोंको पथभ्रष्ट होने दें, बल्कि समय रहते चेत जाना ही बुद्धिमानी है।

आजकी युवा-पीढ़ीमें शिष्टाचार नामकी चीज दिखायी नहीं देती, गुरु-शिष्य-सम्बन्ध बिगड़ चुके हैं और प्राचीन गुरुकुल-परम्परा समाप्त-प्राय है। शिक्षाकेन्द्र अनाचार और दुराचारके अड्डे बन गये हैं। महान् आदर्शवादी, विश्ववन्द्य

महापुरुषोंद्वारा अपने रक्तसे सींचकर पनपायी और विकसित की गयी श्रेष्ठ शिक्षण-संस्थाओंमें आज बिना पुलिस और बलप्रयोगके काम नहीं चल पा रहा है। युवा-पीढ़ीमें अपने गुरुजनोंके प्रति श्रद्धा या आस्था नामकी कोई चीज नहीं रह गयी है। दुर्भाग्यसे सच्चे गुरु भी कम दिखायी देते हैं, फिर भी गुरु और माता-पिताका स्थान दूसरा कोई नहीं ले सकता। वे कैसे भी हों, सदैव हमारे आदर तथा श्रद्धाके पात्र हैं। उनके प्रति शिष्टता या अभद्रता अक्षम्य है। यह कुसंस्कारोंका ही परिणाम है कि युवावर्गको माँ-बाप तथा बड़ोंके सामने अश्लील गाना गाने, गंदी फिल्में देखने और गंदे घासलेटी साहित्यके पारायणमें तनिक भी लज्जा या शर्मका अनुभव नहीं होता। आखिर यह सब क्या है ? अब बाकी क्या रह गया ? आजकी युवा-पीढ़ीपर ही कलके देशका भविष्य निर्भर है और जब वह स्वयं गलत होगी—सही नहीं होगी, तब देश सही कैसे रह पायेगा ? इसीलिये कहा गया है कि चरित्र यदि नष्ट हो गया, बिगड़ गया तो सब कुछ नष्ट हो गया, ऐसा मानना चाहिये। देश इस समय नैतिक पतनकी पराकाष्ठापर है।

आजकी युवा-पीढ़ी तनावग्रस्त भी है। उत्तेजक उपन्यासों और गलत खान-पान तथा नशाखोरी आदिका ही परिणाम है कि आजका युवावर्ग चोरी, डकैती और आगजनी-सरीखे कृत्योंमें सक्रिय दिखायी देता है। आत्मदाह-सरीखे कृत्य भी बुद्धिमानीके परिचायक नहीं हैं। समस्याके समाधानका यह सही मार्ग नहीं है। रामायण और महाभारत-सरीखे धारावाहिक देखकर भी आजका युवावर्ग रावण, कंस, शकुनि और दुर्योधन-सरीखे लोगोंके आचरणसे प्रभावित होता हुआ प्रतीत होता है। उसकी झूठी शान-शौकत तथा अपनी विविध इच्छाओंकी पूर्तिके लिये पैसा चाहिये और इसके लिये वह गलत रास्ता अपनानेसे भी नहीं हिचकता। अब उसे न केवल अपने, बल्कि अपने परिवारके भविष्य तथा मान-अपमान आदिका कोई ध्यान नहीं है। वह अपनी आवश्यकताओंकी पूर्तिके निमित्त परिश्रम नहीं करना चाहता और न परीक्षामें उत्तीर्ण होनेके लिये वह पढ़ना ही चाहता है। इसके स्थानपर नकलबाजीके तरह-तरहके हथकंडे अपनाकर अपना उल्लू सीधा करनेमें ही वह विश्वास रखता है। ऐसी स्थितिमें हमें उनके साथ कुछ कड़ा रुख अपनाना होगा, यदि हम चाहते हैं कि अनिष्ट न हो। कितने दुःखकी बात है कि वर्तमानमें कुछ अभिभावक अपनी संतानोंके ऐसे आचरणको ही गर्व तथा गौरवकी वस्तु समझते हैं।

छात्रोंका उपयोग राजनीतिक दल भी करते हैं और उनकी आड़में वे अपना उल्लू सीधा करते हैं। एक युग था, जब राष्ट्रपिता गाँधीजीकी प्रेरणा तथा उनके आन्दोलनके प्रभावसे असंख्य युवा एवं विद्यार्थी पढ़ाई छोड़कर स्वातन्त्र्य-आन्दोलनमें कूद पड़े थे। आज देश स्वतन्त्र है और स्थिति इसके सर्वथा विपरीत है। गलत या सही मार्गोंकी पूर्तिके लिये आन्दोलन, हड़ताल या संगठनका सहारा लेना अनुचित है और इससे न व्यक्तिका कल्याण हो सकता है, न देशका। इस प्रकार युवावर्गकी शक्ति तथा क्षमताका निरन्तर ह्रास हो रहा है। ऐसी विकट परिस्थिति और आत्म-निरीक्षणकी वेलामें हमें अपने देशके भविष्यपर बहुत गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिये और कोई ठोस कदम उठाकर इस ज्वलन्त समस्याका समाधान करना चाहिये। समयकी यही माँग है।

भक्त-वाणी

यत्पादपङ्कजरजः श्रुतिभिर्विमृग्यं यन्नाभिपङ्कजभवः कमलासनश्च।
यन्नामसाररसिको भगवान् पुरारिस्तं रामचन्द्रमनिशं हृदि भावयामि॥

(अध्यात्मरामायण १।५।४७)

'जिनके चरण-कमलोंकी रजको श्रुतियाँ भी ढूँढ़ती रहती हैं, वह उन्हें मिल नहीं पाती, अखिल विश्वकी सृष्टि करनेवाले ब्रह्माजी जिनके नाभिकमलसे उत्पन्न हुए हैं और स्वयं भगवान् शङ्कर जिनके नामामृतका चावसे रसास्वादन करते हैं, उन भगवान् रामचन्द्रका मैं निरन्तर ध्यान करता हूँ।'

पढ़ो, समझो और करो

(१)

हृदयकी विशालता और उदारताका आदर्श

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

'यह अपना है और यह पराया है'—यह तो संकुचित विचारके लोगोंकी बात है, परंतु जो उदारचरित हैं उनके लिये तो सम्पूर्ण पृथ्वी ही अपना परिवार है। पर जो अपने परिवारके प्रति अपने कर्तव्योंका पालन नहीं करता, वह पृथ्वीके अन्य प्राणियोंकी क्या सहायता कर सकेगा? एक दृष्टान्त यहाँ उपस्थित है—

श्रीसत्यनारायणजी और विश्वनाथजी दो सगे भाई हैं। दोनोंमें परस्पर प्रगाढ़ स्नेह है और दोनों एक-दूसरेके प्रति समर्पित हैं। बड़े भाईके छः लड़की और दो पुत्र हैं, छोटे भाईके केवल सात लड़कियाँ ही हैं। आर्थिक स्थिति दोनोंकी सामान्य होनेके कारण लड़कियोंके विवाहकी चिन्ता होनी स्वाभाविक ही थी। परंतु छोटे भाई विश्वनाथकी आर्थिक स्थिति विशेष कमजोर होनेके कारण साथ ही सात लड़कियोंका भार तथा कोई लड़का भी न होनेके कारण उसके लिये विशेष चिन्ताकी बात थी।

विजय बड़े भाईका ज्येष्ठ पुत्र है, जिसने आर्थिक स्थिति कमजोर होनेके कारण अपने किसी सम्बन्धीके सहयोगसे व्यापार करना प्रारम्भ किया। अपनी कुशाग्र-बुद्धि, मधुर व्यवहार और ईमानदारीके कारण उसने व्यापारमें सफलता प्राप्त की। पर दूसरी ओर परिवारका दायित्व भी कम नहीं था। छः बहनें तो अपनी सगी ही थीं तथा एक छोटा भाई जिसकी शिक्षा-दीक्षा होनी थी, इसके साथ ही पिताके छोटे भाई—चाचाकी सात लड़कियोंके विवाहका बोझ। विजयके सामने एक प्रश्न था कि वह अपनी आर्थिक समृद्धिका सदुपयोग पारिवारिक दायित्व-निर्वाहमें अर्थात् बहनोंके विवाह और भाईकी शिक्षा आदिके लिये करे अथवा अपनी भौतिक अनन्त आवश्यकताओंकी पूर्तिके निमित्त अपने स्वार्थपूर्ण भोग-विलास और ऐश-आरामके लिये खर्च करे। यह एक अहम सवाल था उसके लिये।

अच्छी सीख और सत्प्रेरणा भगवत्कृपासे ही प्राप्त होती है। विजयने अपनी छः बहनोंके विवाहका भार तो वहन किया ही साथ ही अपनी चचेरी बहनोंके विवाहका भी भार सम-भावसे वहन किया। सभी बहनोंकी शादियोंमें उसका अधिकतम योगदान था। इसके अतिरिक्त अपने अनुजको डॉक्टरीकी उच्च शिक्षासे समन्वित कर उसे अपने पैरोंपर खड़ा करनेका प्रयास किया। इस प्रकार सादा जीवन और उच्च विचारके आदर्शको अपनानेवाला युवक महान् दायित्वका निर्वाह बड़ी सरलतासे कर सका।

सत्कर्म और कर्तव्यपालन करनेवालेकी सहायता परमात्मा—प्रभु सर्वदा करते हैं। सम्पत्तिका सदुपयोग अपने सुख-भोगकी अपेक्षा सबको सुखी बनानेमें है।

—सत्यनारायण काबरा

(२)

सच्चाईमें निष्ठा

अबू-खलीफाके यहाँ वस्त्रोंका व्यापार होता था। वे इस व्यापारको अपनी पूरी ईमानदारीसे करते थे। वे कहा करते थे —'मुसलमान वह है, जिसका ईमान पक्का हो, अपना काम ईमानदारीसे करना खुदाकी सबसे बड़ी इबादत है।'

एक बार उनकी दूकानमें एक कपड़ेका थान ऐसा आ गया, जो देखनेमें तो ठीक था, किंतु बीचमेंसे कटा था। अबू-खलीफाने अपने कर्मचारियोंको हिदायत दी थी कि 'इस थानको बेचते समय इसकी खराबी खरीददारको बतला दें तथा इसे आधे मूल्यपर बेचें।'

लेकिन बेचनेके समय कर्मचारीको ध्यान न रहा और उसने उसे पूरे मूल्यमें बेच दिया। ध्यान आनेपर उसने अपनी भूल अबू-खलीफाको बतलायी और इसके लिये क्षमा माँगी। यह बात जानकर अबू-खलीफाको बहुत दुःख हुआ और वे उस आदमीकी खोजमें निकल पड़े।

बहुत खोज-बीन करनेके बाद पता चला कि वह आदमी हजाजके काफिलेमें शामिल होकर दोपहरको ही यहाँसे चला गया है।

अबू-खलीफा एक तीव्रगामी ऊँटपर सवार होकर तुरंत

हजाजकी ओर चल पड़े। उन्होंने उस आदमीको ढूँढ़ लिया, जिसने वह कटा हुआ कपड़ेका थान खरीदा था। अबू-खलीफाने थानके कटे होनेकी बात बतलाकर उसे आधा मूल्य वापस कर दिया तथा कर्मचारीद्वारा हुई भूलके लिये उससे माफी माँगी।

खरीददार व्यक्तिने अबू-खलीफासे कहा—'बिना कुछ बातके आप यहाँतक दौड़े आये, फिर भूल भी तो अनजानेमें हुई थी, माफीका तो प्रश्न ही नहीं उठता।'

'यदि मैं ऐसा न करता तो अपने धर्मसे च्युत हो जाता।' अबू-खलीफाने कहा—'भूल चाहे जानमें हुई हो या अनजानमें, उसका सुधार तो होना ही चाहिये।' खरीददार अबू-खलीफाकी ईमानदारी और सत्यताके समक्ष नतमस्तक था।

—गोपालदास नागर

(३)

गाय पशु नहीं, साक्षात् देवी है

(एक अद्भुत आँखों-देखी घटना)

सन् १९८८के सितम्बर मासकी बात है। मैं अपनी दूकानपर बैठा था। नगरके कुछ कर्मचारी कुत्ते पकड़कर एक बंद गाड़ीमें डाल देते और ऊपरसे जहरीला पाउडर छिड़ककर मार डालते थे। कर्मचारी एक दिन कुत्तोंको पकड़नेमें व्यस्त थे—एक कुत्तेके गलेमें फंदा फेंका गया, परंतु किसी दैवी कारणवश वह फंदा जल्दी खिंच नहीं सका। फंदेका एक छोर कर्मचारीके हाथमें और दूसरा छोर कुत्तेके गलेमें था। फंदा पड़ते ही कुत्ता चिल्लाते हुए भागने लगा। साथ ही एक छोर पकड़े कर्मचारी भी उसके पीछे-पीछे दौड़ने लगे। लोग बाजारमें तमाशा देखते रहे, परंतु कुत्तेको छुड़ानेकी किसीकी भी हिम्मत नहीं हुई। पासमें ही एक गाय चर रही थी, वह कुत्तेकी स्थिति देखकर अचानक क्रुद्ध हो उठी और कुत्तेको छुड़ानेके लिये फंदा पकड़े उस कर्मचारीके पीछे वेगपूर्वक हुंकारती हुई दौड़ी। कर्मचारी यह देखकर घबरा गया और घबराहटमें उसके हाथसे फंदा छूट गया। फंदेके छूटते ही कुत्ता दूर भाग गया और उसकी जान बच गयी।

'जाको राखै साइयाँ मार सकै न कोय।'

मूक प्राणी (कुत्ते) को मूक प्राणी (गाय) ने ही मौतसे बचाया, यह देखकर हम आश्चर्यचकित हो गये। मेरे मनमें यह विचार आया कि यह गाय पशु नहीं, प्रत्युत साक्षात् देवी है; जो कार्य हम इंसान नहीं कर सके, वह इसने कर दिखाया। हम सभी गो-माताके प्रति नतमस्तक थे।

—बं० मिठालाल जोशी

मनन करने योग्य

(१)

अधिक धन, अधिक उत्पात

आधुनिक हिन्दीके जन्मदाता माने जानेवाले भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रके पुरखे राजस्थानके ओसियाँ नामक स्थानमें रहते थे और कई सदियों-पूर्व वे आकर वाराणसीमें बस गये थे। उनका परिवार काफी सम्पन्न था। वे दिल खोलकर खर्च करते थे और उनकी दानवीरताकी बहुत चर्चा थी।

खाते-पीते, खर्च करते और दान देते-देते तो कुँआ भी सूख जाता है। यह बात सोचकर तत्कालीन काशीनरेशने एक बार भारतेन्दुजीसे कहा—'बबुआ! तुमने तो अपनी सम्पत्तिका सत्यानाश ही कर दिया।' भारतेन्दुजीने उत्तर दिया—'महाराज! यह दौलत बहुत बुरी चीज है। इसने मेरे दादाजीको खा लिया, यह मेरे पिताजीको खा गयी और अब मुझे भी खानेकी तैयारीमें थी। मैंने सोचा कि इस सत्यानाशी दौलतको मैं ही क्यों न खा-खिलाकर और बाँटकर यह समस्या ही समाप्त कर दूँ। ऐसी सम्पत्तिसे मोह कैसा जो स्वयं ही उत्पातकी जड़ है।'

(२)

दानी महाकवि माघ

एक बार महाकवि माघ अपना महाकाव्य 'शिशुपालवध' लिखनेके लिये बैठे हुए थे। उसका नवाँ सर्ग लिखा जा रहा था, तभी अवन्तिकापुरीका निवासी एक गरीब ब्राह्मण उनके पास आया और उसने बताया कि उसके पास एक फूटी कौड़ी भी नहीं है और बेटीका विवाह करना बहुत आवश्यक है।

माघ भी उस समय तंगीकी स्थितिमें ही थे, परंतु उनके मनमें तो दयाका सागर लहराता था। उन्होंने ब्राह्मणके मर्मकी पीड़ाको समझा और घरमें कोई ऐसी चीज ढूँढ़ने लगे जिससे उस ब्राह्मणका कार्य सफल हो सके। लेकिन उन्हें कोई भी मूल्यवान् सामान् नहीं मिला। उनकी धर्मपत्नी पासमें चारपाईपर सो रही थीं। उसी समय माघकी दृष्टि पत्नीके हाथपर गयी जिसमें सोनेका कंगन था। उन्होंने वह कंगन पत्नीके हाथसे निकाल लिया और उसे ब्राह्मणको देनेहीवाले थे कि पत्नी उठ खड़ी हुई। शायद वह सोनेका बहाना कर रही थीं। उन्होंने अपने दूसरे हाथका कंगन भी उतारकर पतिदेवके हाथमें दे दिया और बोलीं—'एक कंगनसे इस ब्राह्मणका काम पूरा नहीं होगा। इन्हें दोनों कंगन दे दीजिये, जिससे ये अपनी लड़कीका विवाह आरामसे कर सकें।'

महाकवि अपनी पत्नीका यह त्याग देखकर अति प्रसन्न हुए और वह ब्राह्मण इन दोनों पति-पत्नीको आशीर्वाद देते हुए दोनों कंगन लेकर अपने घरकी ओर चल दिया।

(३)

खिचड़ीसे सीख

एक बार खेतड़ी-नरेश महाराज अजीत सिंह और स्वामी विवेकानन्द, राजा साहबके आवासपर भोजन करनेके लिये बैठे। दोनोंके सामने गर्म-गर्म खिचड़ी और उसपर कच्चा घी थालोंमें परोसा गया। स्वामीजीने पहले कभी खिचड़ी खायी नहीं थी, लेकिन खिचड़ीसे आ रही सोंधी-सोंधी गंध उन्हें बहुत प्रिय लगी। खानेके लिये उन्होंने खिचड़ीके बीचमें जैसे ही अपना हाथ डाला, खिचड़ी और घीकी गर्मीसे अँगुलियाँ जलने लगीं और उन्होंने अपना हाथ तुरंत झटका। राजा साहबने कहा—'स्वामीजी! यह खिचड़ी है। यह गर्म-गर्म ही खायी जाती है, लेकिन बीचसे आरम्भ न करके इसे किनारेसे ही खाना शुरू करना चाहिये और धीरे-धीरे उठाकर मुँहमें रखना चाहिये।' स्वामीजीने ऐसा ही किया।

भोजनके बाद स्वामीजी कहने लगे—'राजन्! आज मैंने खिचड़ीसे भी ज्ञान प्राप्त किया है। किसी भी कामको बीचसे शुरू नहीं करना चाहिये।'

(४)

शान्तिका मार्ग—सेवा

स्वामी विवेकानन्द प्रायः अपने मित्र खेतड़ी (राजस्थान) नरेश श्रीअजीत सिंहकी चर्चा करते रहते थे। एक बार नरेशने पूछा—'शान्ति-प्राप्तिका सुगम मार्ग कौन-सा है?' स्वामीजीने उत्तर दिया—'जिज्ञासु नरेश! यही प्रश्न लेकर एक बार एक व्यक्ति मेरे पास आया था। वह कई प्रकारके साधन करते-करते थक गया, पर उसे शान्ति नहीं मिली। तब मैंने उससे कहा कि तुम अपने मनकी कोठरीका दरवाजा खोल दो और आस-पासके दीन-दुःखियों, जरूरतमंदों, लाचार लोगोंकी सेवामें लग जाओ। अशिक्षितोंको शिक्षा दो। तुम्हें जरूर शान्ति मिलेगी।' विवेकानन्दके इस मर्मभेदी कथनको राजा साहबने अपने जीवनका सूत्र समझ लिया और सेवाके माध्यमसे शान्ति-प्राप्तिमें लग गये।

(५)

संत दादूको ज्ञानबोध

दादू उस समयतक संत दादू नहीं बने थे। वे अपनी दुकानमें बैठे हिसाब-किताब करनेमें व्यस्त थे। बाहर मूसलाधार वर्षा हो रही थी और उसीमें कहींसे एक साधु आकर खड़े हो गये थे। दादूका ध्यान उधर नहीं गया। हिसाब-किताब करनेके बाद जब उन्होंने बाहरकी ओर देखा तो दरवाजेपर एक साधु खड़ा दिखायी दिया जो पानीमें भींग रहा था। वे तुरंत बाहर गये और साधुको भीतर लाकर बिठाया तथा उनके चरणोंमें अपना सिर रखकर बार-बार क्षमा-याचना करने लगे।

साधुने गम्भीर वाणीमें कहा—'मैं तो कुछ ही देरसे यहाँ आकर खड़ा था, ज्यादा देर नहीं हुई। परंतु ईश्वर तो न जाने कबसे तुम्हारे दरवाजेपर खड़ा तुम्हें पुकार रहा है और अभी भी प्रतीक्षा ही कर रहा है।' बताया जाता है कि इसी गुरु-वाणीसे उनके जीवनकी धारा बदल गयी और संसार छूट गया। वे संत दादू हो गये और फिर दादूपंथके प्रभु।

—डॉ॰ मनोहरलाल गोयल



॥ श्रीहरिः ॥

(भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और सदाचार-सम्बन्धी सचित्र मासिक पत्र)

'कल्याण'

—के ६४वें वर्ष (वि॰ सं॰ २०४७, सन् १९९०-९१ ई॰) के दूसरे अङ्कसे बारहवें अङ्कतकके

निबन्धों, कविताओं और संकलित सामग्रियोंकी वार्षिक विषय-सूची

(विशेषाङ्ककी विषय-सूची उसके आरम्भमें देखनी चाहिये, वह इसमें सम्मिलित नहीं है।)

निबन्ध-सूची

पद्य-सूची

संकलित पद्य-सूची

Appeal

Through the grace of God, publication of the **Kalyana-Kalpataru** was resumed after a lapse of nearly fifteen years in May, 1989. We had brought out the **God-realization Number** as the **Annual Number** for the XXXV year and **Śiva Number** for XXXVI year.

The patronage and co-operation which is uniformly received from our patrons, friends, well-wishers, contributors and readers alike both in the country and abroad, indicate that the sky which now appears to be overcast with clouds of unbelief, hatred and jealousy etc. may again become clear and bright as the clouds are rolled away by the breeze of spiritual thought. We feel highly encouraged with the patronage of the issues of the **Kalyana-Kalpataru** throughout the year by our readers.

It has now been decided to bring out the next **Annual Number** of the **Kalyana-Kalpataru** for the year XXXVII as **Viṣṇu Number** devoted to Lord Viṣṇu. This issue will contain articles on any aspect of Lord Viṣṇu mainly on the following topics—

1. Viṣṇu or Mahāviṣṇu (The supreme being).
2. Viṣṇu or Sūrya.
3. Viṣṇu as depicted in Vaidika Sūktas.
4. Viṣṇu or Puruṣa and His three forms;
   (1) Creator of Mahat.
   (2) Stayed in Macrocosm.
   (3) Seated in the heart of all the beings.
5. Vaiṣṇavopaniṣads.
6. Vaiṣṇavāgamas.
7. Tradition of Vaiṣṇava Philosophy—
   (1) Dvaita.
   (2) Dvaitādvaita and Acintya-Bhedābheda.
   (3) Viśiṣṭādvaita.
   (4) Śuddhādvaita.
8. Vaiṣṇava Purāṇas and the form of Viṣṇu
9. Vaiṣṇava Saṁhitās: Jayākhya, Pauṣkara etc.
10. Vaiṣṇava Sect prevailing in Bengal or Gauḍa Deśa.
11. Gauḍīya Vaiṣṇava darśana and its literature.
12. Viṣṇu Kāñcī.
13. Different Tīrthas pertaining to Viṣṇu.
14. Vaiṣṇava incarnations.
15. Viṣṇu in Archaeology.
16. Kings of Pāla dynasty and their devotion to Viṣṇu Bhagavān.
17. Viṣṇu in the Bhāratīya Sculpture.
18. Viṣṇu in India and abroad.
19. Viṣṇu and His Śakti Lakṣmī.
20. The Trees relating to Viṣṇu.
21. Viṣṇu in classical Saṁskṛta literature.
22. Worship of Viṣṇu—
    Pañcopacāra, Ṣoḍaśopacāra etc.
23. Viṣṇu-Sahasranāma and its excellence.
24. Stotra literature belonging to Viṣṇu.
25. Śrī Vidyā and Viṣṇu.
26. The cult of Viṣṇu prevalent in different places of Bhāratavarṣa.
27. The preeminent devotees of Viṣṇu.
28. The significance of 'यज्ञो वै विष्णुः'.
29. Viṣṇu in Hindi and other languages.
30. The greatness of the names of Viṣṇu like Acyuta, Ananta, Govinda etc.
31. Some important Stotras of Viṣṇu.
32. Oneness of Lakṣmī and Viṣṇu.
33. Bhāgavata or Sātvata System of Vaiṣṇavism.
34. Viṣṇu in the Trinity of deities.

It has been decided to bring out the next Annual Number (Viṣṇu Number) in October 1991. Patrons, readers and persons with religious and spiritual leaning are requested to contribute articles on any aspect of these topics. They are, however, free to choose any other aspect of Lord Viṣṇu. Articles neatly written/typed in double space of foolscape/quarto size with sufficient margins on sides may please be forwarded to us latest by June 30, 1991.

All correspondence in this regard may be addressed to—

Editor,
The Kalyana-Kalpataru,
Gita Press,
P.O. Gita Press—273005
Gorakhpur (U.P.) India.

गीताभवन, स्वर्गाश्रमके सत्सङ्गकी सूचना

प्रतिवर्षकी भाँति इस वर्ष भी गीताभवन, स्वर्गाश्रममें सत्सङ्गके आयोजनकी व्यवस्था है। वहाँ *परम श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराजका* शुद्ध वैशाख बदी सप्तमी तिथि (६ अप्रैल) को पहुँचनेका विचार है। अन्य साधु एवं विद्वान् भी पधारनेवाले हैं।

अतः नम्र निवदेन है कि सत्सङ्गी भाई लोग तथा माताएँ-बहनें अधिकाधिक संख्यामें सत्सङ्ग तथा भजनके पवित्र उद्देश्यसे गीताभवन पधारें, आमोद-प्रमोद (मनोरञ्जन) अथवा जलवायु-परिवर्तनकी दृष्टिसे न जाकर सभीको केवल सत्सङ्ग-लाभके उद्देश्यसे ही वहाँ जाना चाहिये एवं यथासाध्य नियमित तथा संयमित साधक-जीवन बिताते हुए सत्सङ्ग-कथा-श्रवण तथा कीर्तन आदिके आयोजनोंमें अनिवार्यरूपसे सम्मिलित होना चाहिये।

जिन्हें नौकर, रसोइयाकी आवश्यकता हो, उन्हें यथासम्भव उनको अपने साथमें ही ले जाना चाहिये। स्वर्गाश्रममें नौकर, रसोइयोंका मिलना कठिन है। माताएँ और बहनें पीहर या ससुरालवालोंके (अथवा अन्य किसी निकटके सम्बन्धीके) साथ ही वहाँ जायँ। अकेली कदापि न जायँ। अकेली जानेकी दशामें उन्हें स्थान मिलनेमें कठिनाई हो सकती है। गहने आदि जोखिमकी वस्तुएँ साथमें बिलकुल नहीं ले जानी चाहिये। सत्सङ्गी भाइयोंको बहुत आवश्यक सामान ही अपने साथमें ले जाना चाहिये तथा अपने सामानकी पूरी सँभाल भी स्वयं ही रखनी चाहिये। जहाँतक बन पड़े छोटे बच्चोंको साथमें न ले जायँ। खान-पानकी वस्तुओंका प्रबन्ध यथासाध्य किया जा रहा है, परंतु दूधके प्रबन्धमें बहुत कठिनाई है।

—व्यवस्थापक

'कल्याण'का आगामी (वि॰ सं॰ २०४८का) विशेषाङ्क

'योगतत्त्वाङ्क'

'योग' स्वयंमें एक परम शक्ति और विशिष्ट साधना है। अध्यात्म तथा साधनाके क्षेत्रमें इसे महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। भारतीय सनातन संस्कृति तथा शास्त्रोंने 'योग'को भगवत्साक्षात्कार और मोक्षका प्रमुख साधन माना है। इसीलिये शास्त्रोंमें सर्वत्र ही न्यूनाधिकरूपसे इसकी उपलब्धियों तथा विशिष्टताओंका प्रतिपादन हुआ है। योग-साधनासे लौकिक तथा पारलौकिक सभी प्रकारकी सिद्धियाँ, पराशान्ति और कैवल्यकी प्राप्तितक सम्भव और सुगम है। तभी तो योगाचार्योंने योगके प्रति अपार श्रद्धा और आस्था व्यक्त करते हुए इसे भगवान्का अन्यतम स्वरूप भी बतलाया है। योग-साधना और योगाभ्यास लौकिक तथा पारलौकिक अभ्युदय एवं परमात्म-प्राप्तिकी दृष्टिसे अत्यन्त उपयोगी साधन है। योगकी इस सर्वमान्य महत्ता एवं वर्तमानमें इसके प्रति विशिष्ट और सर्वसाधारणजनों—सभीकी आस्था और आकर्षणको दृष्टिगत रखकर इस साधनोपयोगी विषयका 'कल्याण'के आगामी ६५वें वर्ष, सं॰ २०४८ (अप्रैल, १९९१) के विशेषाङ्कके रूपमें प्रकाशनार्थ निर्णय लिया गया।

इस अङ्कमें योगकी परिभाषा, महत्त्व, स्वरूप-तत्त्व एवं योग-साधनाके सभी अङ्ग-उपाङ्गोंके विवेचनके साथ उपनिषदों, आगमों, पुराणों और दर्शन आदि शास्त्रों तथा विभिन्न धर्मोंकी दृष्टिसे इसका सुन्दर दिग्दर्शन भी प्रस्तुत किया गया है। इसके अतिरिक्त योगके विविध भेदों, योगशास्त्रों, योगासनों और प्राचीन कालसे अर्वाचीन समयतकके प्रायः सभी सुप्रसिद्ध योग-सिद्ध महात्माओं और योग-साधकोंकी योगमय चर्याओं एवं उनकी साधना-पद्धतियोंका वर्णन भी उपादेय सामग्रीके रूपमें रोचक भाषा-शैलीमें प्रस्तुत किया जा रहा है। प्रसङ्गानुसार इसमें अनेक सुन्दर बहुरंगे, सादे तथा रेखाचित्र भी रहेंगे। इस प्रकार 'कल्याण'के विशेषाङ्कोंकी पूर्व-परम्परामें यह अपने प्रतिपाद्य विषयका एक अन्यतम संग्रह सिद्ध होगा, ऐसी आशा है।

भगवत्कृपासे विशेषाङ्कका मुद्रण-कार्य तेजीसे हो रहा है। यह समयपर प्रकाशित हो, इसके लिये यथासम्भव पूरा प्रयास किया जा रहा है। शुल्क-राशि ५५.०० (पचपन रुपये) मात्र अग्रिम भेजनेवालोंको उपर्युक्त विशेषाङ्कके (रजिस्टर्ड-डाकद्वारा) प्रेषणमें प्राथमिकता दी जायगी। अतः सभी इच्छुक सज्जनोंको तदर्थ शुल्क-राशि शीघ्रातिशीघ्र अग्रिम भेजकर अपनी प्रति पूर्व सुरक्षित करा लेनी चाहिये।

विशेषाङ्क—'योगतत्त्वाङ्क' (सौर चैत्र, संख्या—१) और इसके दो परिशिष्टाङ्कों (क्रमशः सौर वैशाख और सौर ज्येष्ठ, संख्या—२-३)के सहित कुल तीन अङ्क एक साथ भेजे जायँगे।

व्यवस्थापक—'कल्याण', पत्रालय—गीताप्रेस, गोरखपुर-२७३००५